

कल्याण



हरे राम हरे राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
संस्करण १,४५,०००

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-मुरली-हरण-लीला [कविता]	... ८९३
२-कल्याण ('शिव')	... ८९४
३-सच्ची शिव-भक्ति (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)	... ८९५
४-परदोषदर्शन और कुसङ्गसे हानि तथा गुणदर्शन और सत्सङ्गसे लाभ (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	... ८९७
५-मधुररस ब्रह्मके संस्पर्शसे सब मन-इन्द्रिय निहाल हो गये [कविता]	... ९०१
६-वरिवस्या-रहस्यका दर्शन (डा० सुधीर-कुमार गुप्त)	... ९०२
७-भगवत्कृपा दीनकी सम्पत्ति है [कविता]	... ९०६
८-शिवका विषयान (डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम० ए०, पी-एच० डी०)	... ९०७
९-निरतिशय सुखकी प्राप्ति और आत्म-साक्षात्कार (आचार्य श्रीरामप्रतापजी शास्त्री)	... ९१०
१०-जिन हँदा तिन पाइया (श्रीअजय-कुमारजी)	... ९११
११-कृष्ण-कल्पतरु सेव [कविता] (श्रीहितहरि-वंश महाप्रभु)	... ९१२
१२-मधुर [कविता]	... ९१३
१३-मनकी उपदेश [कविता] (श्रीसुर-दामजी)	... ९१४
१४-रामलीला (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्टाना 'प्रेम')	... ९१५
१५-ब्रजवासकी विधि [कविता] (संत श्रीव्यासदासजी)	... ९१८

१-गोस्वामी तुलसीदासजी
२-मुरली-हरण-लीला

कल्याण, सौर ज्येष्ठ २०२२, मई १९६५

विषय	पृष्ठ-संख्या
१६-मनसुख-विरह-शतक [कविता] (श्रीजसवंत-जी रघुवंशी)	... ९१९
१७-प्रगतिशील जीवन और आध्यात्मिक-चिन्तन (श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०)	... ९२२
१८-सब माननेकी बात है ! (डा० श्रीराम-चरणजी महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, मानस-शास्त्र-विशेषज्ञ)	... ९२४
१९-सरलता [कहानी] (श्री 'चक्र')	... ९२६
२०-लोकोपकारकी भावना (श्रीचक्रधरजी 'नलिन')	... ९३०
२१-समय, शक्ति एवं साधन (श्रीअगर-चन्दजी नाहटा)	... ९३२
२२-सम्यक्तासे मदहोश हुए हम कहाँ जा रहे हैं ? (श्रीकस्तूरमल्लजी बाँठिया)	... ९३४
२३-समाजव्यापी पतनका निवारण (श्रीधर्म-वीरजी)	... ९४१
२४-मुसकानकी मधुरता [कविता] (स्वामीजी श्रीजयरामदेवजी)	... ९४३
२५-महानताका रहस्य (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')	... ९४४
२६-अद्वैत आस्था (श्रीवद्रीनारायणजी शर्मा)	... ९४४
२७-गीता-गुह्य (एक महात्माद्वारा लिखित ग्यारह श्लोकोंकी व्याख्या)	... ९४५
२८-आराध्य रामका नखशिख (डा० श्री-बलदेवप्रसादजी मिश्र, डी० लिट०)	... ९४९
२९-पढ़ो, समझो और करो	... ९५१
३०-प्रार्थना [कविता]	... ९५६

चित्र-सूची

(रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
(तिरंगा) ... ८९३

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनन्द भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

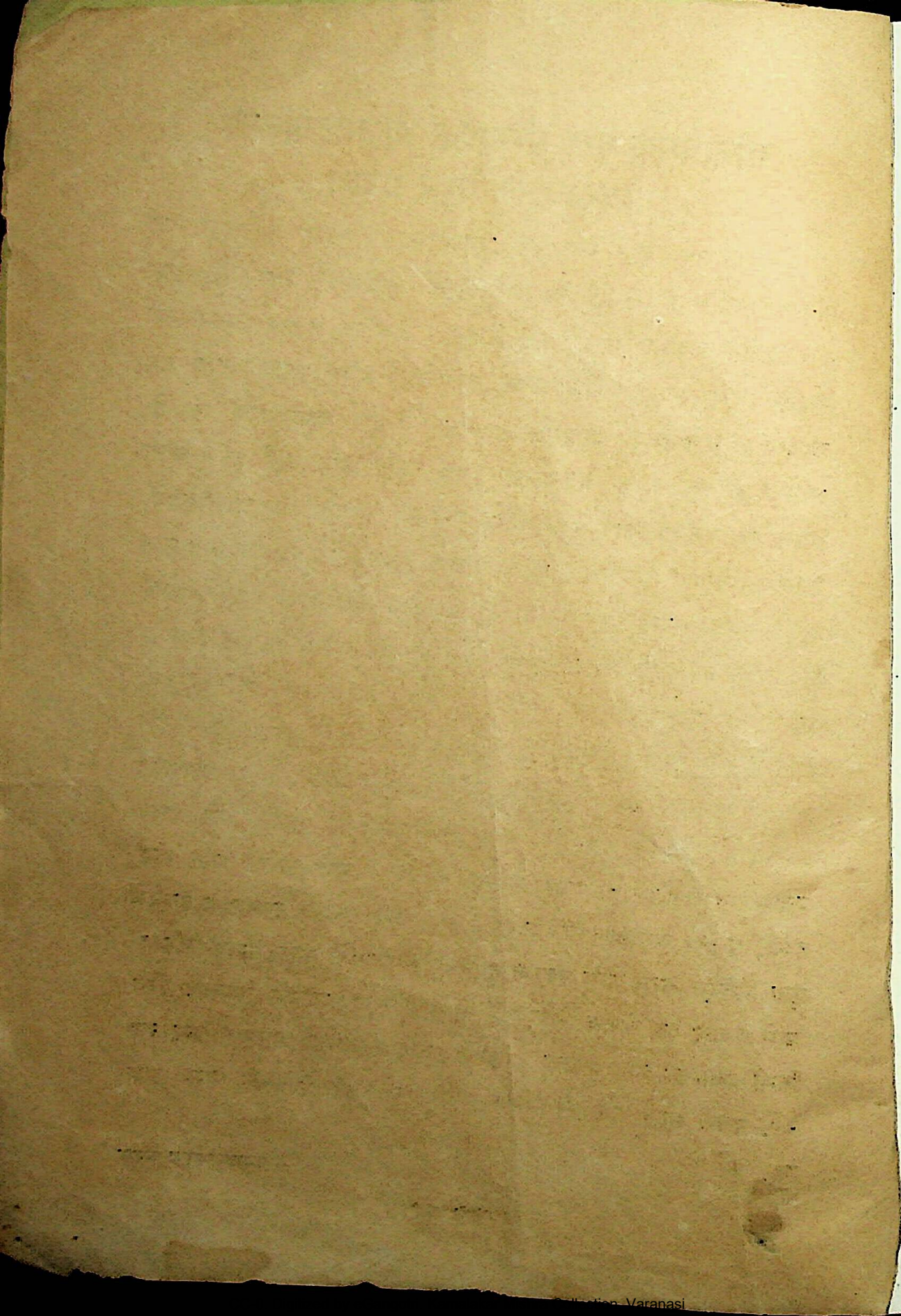
{ साधारण प्रति
भारतमें ४५ पै०
विदेशमें ५६ पै०
(१० " स)

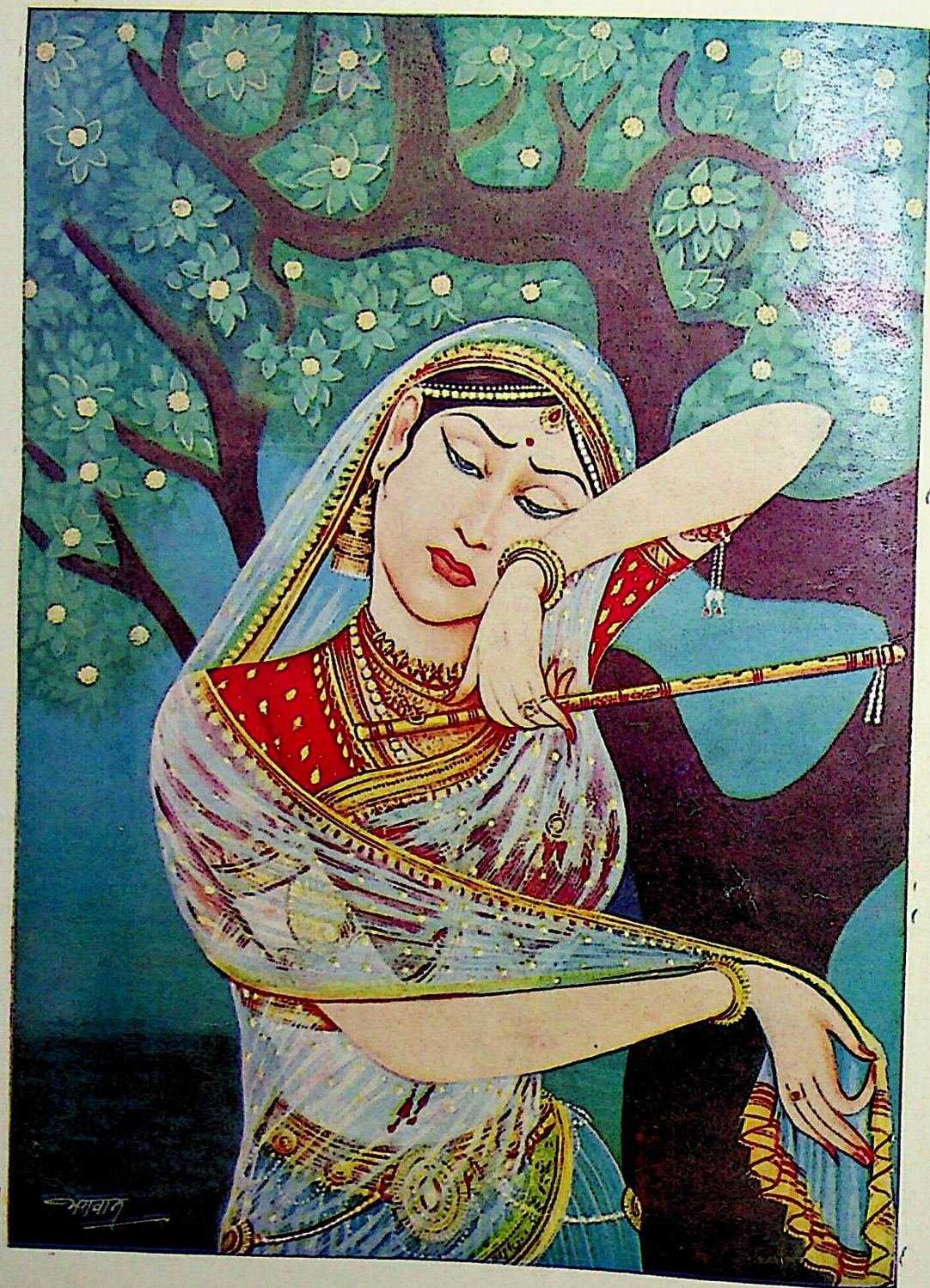
सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

गीताप्रेसके मूल संस्थापक श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका परम प्रयाण

गीताप्रेसके मूल संस्थापक, संचालक, प्राणदाता श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका नाम 'कल्याण'के सभी पाठक भलीभाँति जानते हैं। इधर कुछ दिनोंसे वे बीमार थे और गत दिनाङ्क १७ अप्रैल, १९६५ शनिवारको उन्हींके द्वारा संस्थापित गीता-भवन, ऋषिकेशमें पवित्र गङ्गातटपर संध्याके लगभग ४ बजे उनका देहावसान हो गया। वे मुक्त महापुरुष थे, संत थे; अतएव भौतिक देहके अवसानसे उनकी कोई हानि नहीं हुई। वे तो अपने स्वरूपमें ही स्थित थे और अब भी हैं ही; पर उनके प्रत्यक्ष उपदेशसे, उनके आचरणसे, उनके व्यवहार-वर्तावसे असंख्य लोगोंको जो परम लाभ अनवरत चिरकालसे प्राप्त हो रहा था, वह अब नहीं होगा। उनके अपने लिये शोक या दुःख प्रकट करनेकी जरा भी बात न होते हुए भी हमलोग जो उनके प्रत्यक्ष उपदेशोंसे वञ्चित हो गये, यह हमारे लिये बहुत बड़ी हानि है और इसका भयानक दुःख भी है ही। अब तो हम सभीको उनके जीवनमें आचरित व्यवहारोंके द्वारा और वे जो धार्मिक और आध्यात्मिक अमूल्य साहित्य दे गये हैं, उसको अपने जीवनमें उतारने और उसके प्रचार-प्रसारके द्वारा ही लाभ उठाना चाहिये। यही उनकी परम सेवा होगी, उनका वास्तविक स्मारक होगा और उनके अनन्त उपकारोंके बदलेमें कुछ निवेदन करने योग्य सम्पत्ति होगी। 'कल्याण'के समस्त पाठक-पाठिकाओंसे हमारा यह विनम्र निवेदन है कि वे श्रीजयदयालजीके आत्माके लिये किसी प्रकारका शोक प्रकाश न करके उनके बताये हुए मार्गका अनुसरण करें, उनके भावों और विचारोंका प्रचार करें और जीवनमें परम लाभ प्राप्त करें।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार





मुरली-हरण-लीला

ॐ पूर्णमतः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुद्भवते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्तं तव तु भगवन्नाम निखिलं समूलं संसारं कपति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

वर्ग ३९

गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०२२, मई १९६५

संख्या ५
पूर्ण संख्या ४६२

मुरली-हरण-लीला

कदंब वृक्ष छाया सुखद, राजत स्यामा स्याम ।
करत परस्पर रुचिर मधु, विविध विनोद ललाम ॥
खेलत-खेलत ही लई, राधा मुरलि छिपाय ।
लाड़िलीकी लीला ललित, समुझे स्याम सुभाय ॥
छिपे तुरत, राधा विकल विरहाकुल गंभीर ।
ठाढ़ी, भरे विषाद मन, रस-सागरके तीर ॥
'औचक कहँ प्रियतम गये' चिंता चित्त अपार ।
अकुटि कुटिल भइ मान वस, मगन बिचित्र बिचार ॥

कल्याण

याद रक्खो—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही परम तत्त्वके नाम हैं। वे ही भगवान् निर्गुण, निर्गुण-सगुण, सगुण, सगुण-साकार, साकार, निर्गुण-सगुण-साकार—सब कुछ हैं। उनके गुण उनके स्वरूपभूत अभिन्न हैं। उनका आकार उनका स्वरूपभूत अभिन्न है। जीवोंकी भाँति उनका मङ्गलशरीर न तो कर्मजनित है, न परतन्त्रतासे प्राप्त है, न पाञ्चभौतिक है। न वह कभी वनता और न नष्ट ही होता है। वह लीलास्वरूप नित्य है, वह स्वेच्छामय है और वह सच्चिदानन्दधन-स्वरूप है।

याद रक्खो—भगवान्का दिव्य मङ्गल-स्वरूप मायासे नहीं दीखता है। मायासे दीखनेवाली वस्तु असत् होती है, वह दीखती भर है; पर उसकी सत्ता नहीं होती। भगवान् नित्य सत् हैं; वे दीखें या न दीखें—उनका स्वरूप तो नित्य सत्य है ही। उनकी कृपा होनेपर ही दीखता है। लीलासे कहीं प्रकट हो जाता है, कहीं अन्तर्धान हो जाता है। पर वह नित्य सत्य सनातन और दिव्य चिन्मय है।

याद रक्खो—भगवान्में न तो इच्छा है, न उन्हें किसी अप्राप्त वस्तुके प्राप्त करनेकी आवश्यकता है; क्योंकि न तो कुछ उन्हें अप्राप्त है और वस्तुतः उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी कोई सत्ता ही नहीं है। उनकी सारी लीला अपनेमें अपने-आपसे ही अपने-आपके लिये अपने-आप ही हुआ करती है। लीला और लीलामय दो नहीं हैं।

याद रक्खो—भगवान्की शक्ति भगवान्से पृथक् नहीं है। वह उन्हींकी स्वरूपभूता है और सदा अभिन्नरूपसे उन्हींमें स्थित रहती है। वह शक्ति जहाँ लीलास्वरूपमें प्रकट होती है, वहाँ पृथक् दीखती है; जहाँ प्रकट लीलाका विराम है, वहाँ वह दिखायी नहीं देती। दिखायी न देनेपर भी वह उनमें है ही और दिखायी

द देनेपर भी वह वस्तुतः उनसे पृथक्—भिन्न नहीं है। शक्ति और शक्तिमान्का नित्य अविनाभाव अभिन्न सम्बन्ध है। जहाँ शक्ति प्रकट है, वहाँ भगवान् व्यक्त माने जाते हैं और जहाँ वह अप्रकट है, वहाँ अव्यक्त। पर यह व्यक्त और अव्यक्त भाव भी—भगवान्में कोई अवस्थामेद नहीं है। वे किसी भी अवस्थामें परिणत नहीं होते। उनमें जो कुछ दिखायी देता है, वह सब वस्तुतः उनके स्वरूपसे भिन्न नहीं है।

याद रक्खो—भगवान्का कभी विकास या अविकास नहीं होता। वे नित्य सत्य सनातन स्वरूपाभिन्न खमहिमामें स्थित हैं। कोई किसी भी भावमें, किसी भी स्वरूपमें उनको देखे, उनकी उपासना करे—सब वही हैं और सब उन्हींकी उपासना होती है। वे उपासकके भावानुरूप उसके सामने प्रकट होकर उसका सारा तम हरण करके उसे अपने यथार्थ दिव्य स्वरूपका ज्ञान करा देते हैं, वह कृतकृत्य हो जाता है।

याद रक्खो—भगवान् सर्वमय हैं, सर्वातीत हैं; सर्वगुणसम्पन्न हैं, सर्वथा गुणरहित हैं; सर्वाधार हैं, सबसे परे हैं। उनके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं; 'सर्व' रूपमें वे ही अभिव्यक्त हैं। वे एक हैं, अनन्त हैं, असीम हैं; वह एकता, अनन्तता और असीमता भी उनमें उन्हींसे है।

याद रक्खो—भगवान्में यह कल्पना ही नहीं होती कि वे ऐसे हैं, ऐसे नहीं हैं; वे निर्गुण ही हैं, सगुण नहीं हैं; सगुण ही हैं, निर्गुण नहीं हैं; वे निर्विशेष ही हैं, सविशेष नहीं हैं; वे सविशेष ही हैं, निर्विशेष नहीं हैं। वे सब कुछ हैं और उनके अतिरिक्त किसी भी भावकी सत्ता नहीं है। वे ही इन सारे भावों—स्वरूपों—में विभिन्नरूपसे व्याख्यात होते और अपना साक्षात् कराते हैं। अतः सारे संदेह-भ्रमको छोड़कर अपने-अपने भावानुसार उनका आराधन-पूजन करना चाहिये।

‘शिव’

सच्ची शिव-भक्ति

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिगार्ह व्यास)

सबके हृदयमें चेतन है । प्राणीमात्रकी सत्ता इस चेतनके कारण है । सारा ब्रह्माण्ड चेतनके कारण है । वह चेतन ही शंकर है ।

समस्त सचराचरमें व्यापक जो चेतन है, वही पहले था, उसमें और कुछ न था । जब ब्रह्माण्डके उत्पन्न होनेका समय आया तो उसमें एक दमकते हुए प्रकाश-वाले अण्डके आकारकी एक आकृति उत्पन्न हुई । जैसे पानीमें तुम्बा तैरता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका उत्पत्ति-स्थान एक अण्ड उत्पन्न हुआ । उसकी उत्पत्ति-के पहले सर्वत्र एकरस था । उसमेंसे आकार उत्पन्न हुआ, वह शंकरका लिङ्ग था । शिव-भक्त उस आदि लिङ्गकी उपासना करते हैं । शिवका अर्थ है—‘कल्याण’ उस अण्डकोषकी वृद्धि होनेपर उसमेंसे अनेक प्रकारकी सृष्टि और जीव उत्पन्न हुए । जीवमात्रका कल्याण करनेवाला होनेके कारण वह ‘शिव’ कहलाता है । प्राणीमात्रके लिये सुख प्रदान करनेवाला होनेके कारण वह ‘शंकर’ कहलाता है । यह शिव-लिङ्ग ही पहले उत्पन्न हुआ था । परमात्मा जो अव्यक्त था, वही शिवरूपमें प्रथम उत्पन्न हुआ । उसके हाथ-पैर आदि कुछ भी नहीं थे । अतएव वह साकार होते हुए भी निराकार था । वही शंकर प्राणीमात्रके हृदयमें चेतन-रूपमें विराज रहा है ।

मूल चेतनस्वरूप व्यापक था । जिस प्रकार तिलमें तेल व्यापक है, जैसे फूलमें सुगन्ध व्यापक है, उसी प्रकार चेतनमें शक्ति है । चेतन और शक्ति, दो पृथक् तत्त्व नहीं हैं । जैसे हम अपनी शक्तिको अपनेसे अलग नहीं कर सकते, उसी प्रकार चेतनसे उसकी शक्ति पृथक् नहीं हो सकती । इस कारण जहाँ-जहाँ चेतन है, वहाँ-वहाँ शक्ति है ।

जहाँ-जहाँ शिव है, वहाँ-वहाँ शक्ति है । इसी कारण शक्ति शिवकी अर्द्धाङ्ग कहलाती है । जहाँ शिव होता है, वहाँ शक्ति होती ही है । शिव और शक्ति एक ही रूप हैं । तथापि बोलनेमें पृथक्-से जान पड़ते हैं । इसी कारण कवि और चित्रकार उन्हें विभिन्न रूपोंमें चित्रित करते हैं ।

गणपति अर्थात् गणका—इन्द्रियोंका पति, अर्थात् जीव । वह शिव-शक्तिका पुत्र कहलाता है । उसको उत्पन्न करनेवाली शक्ति है, शिव नहीं । शिव तो अकर्ता हैं, प्राणीमात्रकी उत्पत्ति शक्तिसे होती है । जैसे मनुष्य सारा काम अपनी शक्तिसे करता है और शक्तिके बिना कुछ होता नहीं; परंतु शक्ति चेतनके बिना कोई काम नहीं कर सकती । अतएव परमात्मा शिवके सामीप्यके कारण शक्ति चराचरको उत्पन्न करती है । वह शक्ति ही गणपति अर्थात् जीवको उत्पन्न करती है । सारा ब्रह्माण्ड शिवकी सत्तासे है, इसको शिवके सामीप्यके कारण शक्तिने उत्पन्न किया है । सृष्टिमात्रमें शिव व्यापक है, प्राणीमात्रके हृदयमें जो चेतन है, वह शिव-स्वरूप है । प्राणीमात्रका भला चाहना, यथाशक्ति भला करना, प्राणीमात्रपर प्रेम रखना—शिवकी सच्ची पूजा है । किसीको अपनेसे क्लेश न हो, इस प्रकार जीवन-यापन करे । जिस स्थितिमें रहे, जहाँ रहे, वहाँ आनन्द-में रहना सीखे । सब सगे-सम्बन्धी, हित-मित्र पक्षियोंके वसेरा-जैसे हैं । ऋणके बन्धनमें सब एकत्र हो गये हैं । ऋणके बन्धनके समाप्त होते ही अलग हो जायेंगे । इसलिये जबतक अपना शरीर है, तबतक सबके साथ शान्ति और आनन्दमें रहे । शिव जैसे शान्त, एकरस हैं, वैसे ही शिव-भक्तको शान्त होना चाहिये । शिव जैसे दयालु हैं, वैसे ही उनके भक्तमें भी दया होनी चाहिये ।

शिवजी जैसे जगत्के वैभवकी इच्छा नहीं करते, बल्कि तप और भक्ति ही करते हैं, उसी प्रकार शिवभक्तको भी जगत्के भोगकी ओर ममता न करके परमात्मा शिवकी भक्ति और इन्द्रिय-निग्रहरूप तप करना चाहिये। शिवको जैसे एकान्त प्रिय है, उसी प्रकार उनके भक्तको आवश्यकतानुसार दूसरोंके साथ संसर्ग रखकर एकान्त सेवन करना चाहिये।

जीवके लिये भक्ति साधन है और आनन्द उसका फल है। नित्य आनन्दमें रहना ही सारे जीवनका प्रयत्न होना चाहिये। संतोष आनन्दकी उत्पत्तिका स्थान है। अपने कर्मसे, धर्मयुक्त उद्यमसे जो कुछ प्राप्त हो, उससे अधिककी इच्छा न करे। इसका नाम 'संतोष' है। यह संतोष जब अपनेमें दृढ़ हो जाता है, तब आनन्द फलता है। योगदर्शनमें लिखा है कि 'संतोषसे अनुत्तम सुख मिलता है।' जो लोग कचमच करते हैं, उनको पूरा नहीं मिलता और झंझट पैदा करके दुःख बटोरते हैं। हम भोजन करने बैठे। रसोईमें कोई वैसी बात नहीं है, जो कुछ है खानेयोग्य है। उसे खाकर आनन्दमें रहनेवाला संतोषी है। पर जो कहते हैं, यह ठीक नहीं, वह ठीक नहीं, इस प्रकारके कचमच करनेवालोंको भी खाना ही पड़ता है, किंतु वे स्वयं वृथा क्लेश उठाते हैं और दूसरेको क्लेश उठानेके लिये विवश करते हैं।

जगत्में हमारे इच्छानुसार ही सब होनेवाला नहीं है। हम जो कुछ चाहते हैं, वह सब कुछ मिलनेवाला नहीं है। अतः कर्मानुसार जो मिले, उसीमें आनन्दित होना चाहिये। खेतमें उपजे हुए अन्नपर लड़नेकी इच्छा करना जैसे ठीक नहीं, उसी प्रकार अपने किये हुए कर्मका फल मिले तो उसमें कचमच किस बातकी ?

अब यदि चेतना चाहते हो तो जान लो कि पापका फल दुःख है और पुण्यका फल सुख है। दुःखको दूर करना है तो अवसे पुण्य-कर्म करो, सुख जरूर मिलेगा। परमात्माकी भक्ति सबसे बड़ा पुण्य है। प्राणीमात्रकी यथाशक्ति सेवा भी पुण्य है। कुछ न बने तो प्रतिदिन, 'हे परमात्मा ! प्राणीमात्रका भला कर' ऐसी प्रार्थना करनेसे भी बड़ा पुण्य होता है। किसीका बुरा न चाहना भी पुण्य है। सबको अपनेसे सुख हो—ऐसा व्यवहार करना तो पुण्य ही है। जैसे परमात्मा सबको प्रिय है, जैसे अपनी आत्मा सबको प्रिय है, उसी प्रकार तुम्हारे सम्पर्कमें जो आवे, उसको तुम प्रिय न हो तो जरूर तुम्हारेमें दोष है। हमारा बर्ताव इतना निर्दोष होना चाहिये कि किसीके लिये हम त्रासरूप, दुःखरूप, भयरूप और कण्टकस्वरूप न बनें।

जो निर्दोष है, वह सबको प्रिय है। निर्दोषता ही सुन्दरता है। निर्दोषता ही आकर्षण है। जितना हृदय निर्मल होगा, उतना ही चेहरेपर सौन्दर्य निखरेगा।

उजली चमड़ीसे सुन्दरता नहीं होती। निर्मल हृदयसे मुँहपर अनुपम आकर्षण तेज आता है, वही सच्ची सुन्दरता है; वह सबको आकर्षित करती है, सबको निहाल करती है। इसी कारण नन्हा बच्चा सबको प्यारा लगता है; क्योंकि वह निर्दोष है।

तुम निर्दोष बनो, तुम निष्कपट बनो, तुम सरल बनो, तुम शंकरके भक्त बनो, तुम सत्यवादी बनो, तुम हंसमुख बनो। तुम प्राणीमात्रका हित चाहनेवाले, यथाशक्ति हित करनेवाले बनो। वैसा बननेमें परमात्मा तुमको सहायता और शक्ति प्रदान करें। ईश्वर तुम्हारा भला करें। परमात्मा सबका भला करें।

परदोषदर्शन और कुसङ्गसे हानि तथा गुणदर्शन और सत्सङ्गसे लाभ

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

साधकको उचित है कि वह किसी भी व्यक्तिमें दोषबुद्धि, दोषदर्शन और उसके दोषोंकी चर्चा न करे। न तो दूसरोंके दोषोंकी बातें सुने, न देखे, न कहे, न मनन करे और न सोचे-विचारे ही। मन-बुद्धिमें दूसरोंके अवगुणोंको स्थान देनेसे अन्तःकरण मलिन होता है; क्योंकि यह मनुष्य-शरीर खेत है और इसमें अन्तःकरण ही बीज बोनेकी भीतरी भूमि है। भगवान्ने भी गीतामें शरीरको खेत बताया है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥

(१३।१)

‘हे अर्जुन ! यह शरीर ‘क्षेत्र’ इस नामसे कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको ‘क्षेत्रज्ञ’ इस नामसे उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं।’

अतः जैसे खेतमें जिस प्रकारका बीज बोया जाता है, वैसा ही वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। वैसे ही बीजरूपसे मनमें स्थान पाये हुए दोषोंके संस्कार ही समय पाकर कुसङ्गसे वृक्षरूप धारण कर लेते हैं। दूसरोंमें दोषबुद्धि करनेसे उनमें तुच्छता और घृणाबुद्धि हो जाती है एवं अपनेमें अच्छेपनका अभिमान बढ़ता है। दूसरोंकी निन्दा करने और सुननेसे जिनकी निन्दा की और सुनी जाती है, उनकी आत्मामें दुःख होता है। इसलिये दूसरोंकी निन्दा करने-सुननेवालेको बड़ा भारी पाप लगता है। पाप तो दूसरेने किया, किंतु उस पाप करनेवाले मनुष्यकी चर्चा करनेसे चर्चा करनेवाला भी उस पापमें शामिल हो जाता है। अतः जिसकी निन्दा की जाती है, उसके किये हुए पापोंका अंश उस निन्दकको भोगना पड़ता है। दूसरोंके दोषोंकी चर्चा करनेसे वाणी, श्रवण करनेसे कान, दर्शन करनेसे

नेत्र, मनन करनेसे मन और सोचने-विचारनेसे बुद्धि— ये सभी दूषित होकर उसका पतन हो जाता है। जैसे मैला जहाँ लग जाता है, उसीको अपवित्र बना देता है। वैसे ही, बल्कि उससे भी बढ़कर यह मनुष्यको अपवित्र बना देता है। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकारके दोष उससे उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये इसमें साधकके लिये किंचिन्मात्र भी लाभ नहीं है; बल्कि सब प्रकारसे हानि-ही-हानि है। अतः मनुष्यको इस दोषसे सर्वथा बचकर रहना चाहिये।

जैसे नीच, नास्तिक, पापी मनुष्यका सङ्ग अत्यन्त हानिकार है, वैसे ही दूसरोंके अवगुणोंकी चर्चा करनेवाले मनुष्योंका सङ्ग भी घातक है। उनका सङ्ग करनेसे उनमें प्रीति हो जाती है और प्रीति होनेसे उनकी बात-का असर हो जाता है। जैसे वर्तमानकालमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, चोरबाजारी, सरकारी करों (टैक्सों) की चोरी करनेवाले व्यक्तियोंका सङ्ग करनेसे सङ्ग करनेवाले मनुष्यके मनमें भी लोभके कारण यही जँच जाता है कि इस समय झूठ, कपट आदि दोषोंसे रहित सर्वथा न्याययुक्त शुद्ध व्यापार कोई कर ही नहीं सकता और न उस व्यापारसे जीवन-निर्वाह ही सुखपूर्वक हो सकता है। इस तरहका बुरा असर पड़ जानेके कारण मनुष्य न्याययुक्त सत्य शुद्ध व्यापार करनेसे निराश हो जाता है जिसका परिणाम बहुत बुरा होता है। इसलिये कुसङ्गसे मनुष्यको सर्वथा बचकर रहना चाहिये। जैसे अपने परिवारके किसी व्यक्तिके प्लेग हो जानेपर उस व्यक्तिमें प्रीति रखते हुए भी उसके छूने आदिका परहेज रखते हैं, उससे बचकर रहते हैं। वैसे ही दोषी व्यक्तिसे घृणा नहीं करनी चाहिये, पर उसके दोषोंसे घृणा करके उन दोषोंसे बचकर रहना चाहिये।

परदोषदर्शनमें महान् हानि है और सच्चे गुणोंके दर्शनमें महान् लाभ है। ऐसा समझकर सबमें गुणबुद्धि ही करनी चाहिये, मनुष्यको गुणग्राही बनना चाहिये।

श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसमें लिखा है—

जड चेतन गुन दोषमय बित्त कीन्ह करतार।

संत हंस गुन गहहि पय परिहरि बारि बिकार ॥

(बाल० ६)

‘विधाताने इस जड-चेतन विश्वको गुण-दोषमय रचा है, किंतु संतरूप हंस दोषरूपी जलको छोड़कर गुण-रूपी दूधको ही ग्रहण करते हैं।’

श्रीनारायण स्वामीजीने कहा है—

तज पर अवगुन नीर को छोर गुनन सों प्रीति।

संत हंस की सबैदा नारायन यह रीति ॥

‘संतरूपी हंसकी सदा यही रीति होती है कि वे पारे अवगुणरूपी जलका त्याग करके उसके गुणरूपी दूधमें ही प्रीति करते हैं।’

इसलिये साधकको किसी भी मनुष्य या प्राणीमें कोई भी गुण हो, उसको ग्रहण करना चाहिये। जिस प्रकार महापुरुषोंका सङ्ग और उनके गुणोंकी चर्चा करनेसे उनका सङ्ग या गुणचर्चा करनेवाले मनुष्यमें उनके गुण और भावोंका असर होकर सब प्रकारसे लाभ-ही-लाभ होता है, वैसे ही किसी भी मनुष्यके गुणोंकी चर्चा की जाय तो उसमें लाभ ही है। फिर भगवान्‌के गुणोंकी चर्चा करनेसे लाभ हो, इसमें तो कहना ही क्या है। वह तो मनुष्य-जीवनका प्रधान प्रयोजन ही है। श्रीभागवतमें कहा है—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा

स्त्रिष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।

अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो

यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥

(१।५।२२)

‘विद्वानोंने इस बातका निरूपण किया है कि

मनुष्यकी तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान और दानका एकमात्र प्रयोजन यही है कि पुण्यकीर्ति भगवान्‌के गुणों और चरित्रोंका वर्णन किया जाय।’

शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः।

यथासुजातया भक्त्या शुद्धयेन्नात्मा व्रतादिभिः ॥

(श्रीमद्भा० ६।३।३२)

‘जो लोग बार-बार भगवान्‌के उदार और कृपापूर्ण गुण और चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करते रहते हैं, उनके हृदयमें प्रेममयी भक्तिका उदय हो जाता है। उस भक्तिसे जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतों और उपवासोंसे नहीं होती।’

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं

तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।

तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां

यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥

(श्रीमद्भा० १२।१२।४९)

‘जिस वचनके द्वारा भगवान्‌के परम पवित्र यशका गान किया जाता है, वही परम रमणीय, रुचिकर और प्रतिक्षण नित्य नया है। उससे अनन्त कालतक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है। मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह समुद्रके समान लंबा और गहरा क्यों न हो, उस गुण-गानके प्रभावसे सदाके लिये सूख जाता है।’

श्रीभगवान् तो गुणोंके सागर हैं। सारे संसारके प्राणियोंमें जो गुण हैं, वे सब मिलकर भी उन गुणसागर भगवान्‌के गुणकी एक बूँदके समान भी नहीं हैं। भगवान्‌के गुण चिन्मय, दिव्य और नित्य हैं; किंतु प्राणियोंमें जो भी गुण हैं, वे भगवान्‌के गुणका एक प्रतिबिम्बमात्र हैं।

अतः हमलोगोंको भगवान्‌के, सिद्ध भगवद्भक्तोंके, उत्तम साधकोंके और साधारण मनुष्योंके सद्गुणों और सच्चरित्रोंका वाणीसे वर्णन, कानोंसे श्रवण, नेत्रोंसे दर्शन, मनसे मनन और बुद्धिसे निश्चय करना चाहिये। इस

प्रकार करनेसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि—सब परम पवित्र हो जाते हैं ।

महापुरुषों और उत्तम साधकोंका सङ्ग तो परम लाभदायक है; क्योंकि उनके श्रद्धापूर्वक सङ्गसे उनमें और उनके गुण-आचरणोंमें रुचि होकर वे गुण और आचरण अन्तःकरणमें उद्भूत होने लगते हैं । इसीलिये महापुरुषोंके सङ्गकी शास्त्रोंमें विशेष महिमा गायी गयी है । श्रीमद्भागवतमें भगवान् शंकरके वचन हैं—

क्षणार्धेनापि तुल्येन स्वर्गं नापुनर्भवम् ।

भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

(४ । २४ । ५७)

‘भगवान्के प्रेमी भक्तोंका यदि आवे क्षणके लिये भी समागम हो जाय तो उसके सामने मैं स्वर्ग और मोक्ष-को कुछ नहीं समझता; फिर मर्त्यलोकके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है ।’

श्रीरामचरितमानसमें भी कहा गया है—

तात स्वर्गं अपवर्गं सुखं धरिअ तुला एक अंग ।

तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

(सुन्दर० ४)

‘हे तात ! स्वर्ग और मोक्षके सब सुखोंको तराजूके एक पलड़ेमें रक्खा जाय तो भी वे सब मिलकर दूसरे पलड़ेमें रक्खे हुए उस सुखके बराबर नहीं हो सकते जो लव (क्षण) मात्रके सत्सङ्गसे होता है ।’

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।

मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दइ अनुराग ॥

(उत्तर० ६१)

‘सत्सङ्गके बिना हरिकी कथा सुननेको नहीं मिलती, उसके बिना मोह नहीं भागता और मोहके गये बिना श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ (अचल) प्रेम नहीं होता ।’

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन ।

बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान ॥

(उत्तर० १२५ ख)

‘हे गिरिजे ! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है । पर वह संत-समागम श्रीहरिकी कृपाके बिना नहीं हो सकता, ऐसा वेद और पुराण गाते हैं ।’

भगवान् गीतामें कहते हैं—

अन्ये त्वेधमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चाति तरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

(१३ । २५)

‘परंतु इनसे दूसरे अर्थात् जो ध्यानयोग (भक्ति-योग), ज्ञानयोग और कर्मयोगमेंसे किसी भी योगसे रहित मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं ।’

श्रीभगवान्का सङ्ग और दर्शन तो विशुद्ध अनन्य प्रेम होनेसे ही होता है । यद्यपि भगवान् सब जगह समान रूपसे व्यापक हैं; पर वे प्रेमसे ही प्रत्यक्ष होते हैं—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥

(रा० च० मा० बाल० १८४ । ३)

भगवान्में प्रेम होता है श्रद्धासे । श्रद्धा होती है भगवान्के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभावके तत्त्व-रहस्यको समझनेसे । ये सब समझमें आते हैं महापुरुषोंके और उत्तम साधकोंके सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंके मननसे । इसलिये संत, महात्माओं और उच्च कोटिके साधकोंका सङ्ग तथा सत्-शास्त्रोंका अध्ययन-मनन अवश्य ही करना चाहिये ।

सत्-शास्त्रोंमें जहाँ भी भगवान्के क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, प्रेम आदि-आदि गुणोंका वर्णन आता है, उनका शास्त्रों और महापुरुषोंसे श्रवण, अध्ययन, कथन, मनन और निश्चय करना चाहिये एवं उनको सुनकर और मनन करके अतिशय प्रसन्न, रोमाञ्चित, प्रसुदित और आह्लादित होना चाहिये । इसी प्रकार भगवत्प्राप्त भक्तोंके गुण और चरित्रोंको शास्त्रोंमें

पढ़कर और अध्ययन-मनन करके मुग्ध होना चाहिये । भगवान् ने गीताके बारहवें अध्यायके १३वेंसे १९वें श्लोकतक भगवत्प्राप्त भक्तोंके लक्षण बताये हैं तथा दूसरे अध्यायके ५५वेंसे ५८वेंतक, छठे अध्यायके ७वेंसे ९वेंतक और चौदहवें अध्यायके २२वेंसे २५वेंतक उच्छकोटिके महापुरुषोंके लक्षण बताये हैं । एवं तेरहवें अध्यायके ७वेंसे ११वेंतक ज्ञानके नामसे, सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरेतक दैवी सम्पदाके नामसे, सतरहवें अध्यायके १४वेंसे १७वेंतक सात्विक तपके नामसे उत्तम साधकोंके धारण करनेयोग्य गुणोंका उल्लेख किया है । इनके सिवा और भी गीता-रामायण आदि ग्रन्थोंमें जगह-जगह वर्णन मिलता है । उनका अध्ययन करके उनको लक्ष्य बनाकर उनके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये ।

साधारण पुरुषोंके भी गुणोंका परस्पर कथन करनेसे वाणी पवित्र होती है, श्रवण करनेसे कान पवित्र होते हैं, उनके आचरणोंका दर्शन करनेसे नेत्र पवित्र होते हैं, मनन करनेसे अन्तःकरण पवित्र होता है और हृदयमें जीव रूपसे धारण करनेपर वह बृक्षरूप हो जाता है जिससे हृदय पवित्र होता है । इस प्रकार उनके गुणोंका कथन करनेसे वे गुण हमारे अंदर आने लगते हैं । एवं दूसरोंके गुणोंकी स्तुति करने और सुननेसे उनकी आत्मा प्रसन्न होती है और करनेवालेके चित्तमें भी प्रसन्नता होती है तथा उसमें गुण-बुद्धि होती है, जिससे अवगुणोंका अभाव और गुणोंकी वृद्धि होती है । इस तरह किसीके भी गुणोंके कथन-श्रवण आदिसे अनेक लाभ हैं । फिर महान् पुरुषोंके और ईश्वरके गुण-चरित्रोंका कथन, श्रवण, मनन, धारण करनेसे अतिशय लाभ हो इसमें तो कहना ही क्या है ।

इसलिये हमलोगोंको उचित है कि भगवान्, महा-पुरुष, उत्तम साधक और साधारण मनुष्योंके भी गुणों-

का ही बार-बार अवलोकन करें, किसीके भी दोषोंका किसी प्रकार भी कभी अवलोकन न करें; क्योंकि गीताके तीसरे अध्यायमें भगवान् ने कर्मयोगका उपदेश देकर उसमें दोषदृष्टि न करनेवाले मनुष्योंकी प्रशंसा की है और करनेवालोंकी बड़ी भारी हानि बतायी है । वे कहते हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥
(गीता ३ । ३१-३२)

‘जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिरहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं; परंतु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ ।’

भक्त अर्जुनको भगवान् ने अपनेमें दोषदृष्टि न करनेके कारण ही अतिगोपनीय ज्ञान-विज्ञानका तत्त्व-रहस्य बतलाया है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥
(गीता ९ । १)

‘तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा ।’

आगे चलकर भगवान् गीताशास्त्रश्रवणके महत्त्व-वर्णनमें भी साधकके लिये दोषदृष्टिसे रहित होना परम आवश्यक बतलाते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥
(गीता १८ । ७१)

‘जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा ।’

किंतु जो दोषदृष्टि करता है, उसका अन्तःकरण मलिन रहता है, इसलिये वह दोषदृष्टिके कारण शास्त्र-श्रवणसे भी लाभ नहीं उठा पाता । इसीसे असूयाको गीतामें आसुरी सम्पदाका एक प्रधान लक्षण बताया गया है—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥
(१६ । १८)

‘वे अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं ।’

असूयाका तात्पर्य यह है कि दूसरोंके दोष देखना, देखकर उनकी निन्दा करना और गुणोंमें दोषारोपण करना । अतः मनुष्यको इन सब दोषोंसे रहित होना चाहिये । श्रीअत्रि ऋषिने अनसूयाके लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।

नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता ॥
(अत्रिस्मृति ३४)

‘जो गुणवानोंके गुणोंका खण्डन नहीं करता, थोड़े गुणवालोंकी भी प्रशंसा करता है और दूसरोंके दोषोंमें प्रीति नहीं करता, उस मनुष्यका वह भाव अनसूया कहलाता है ।’

इन लक्षणोंको भलीभाँति समझकर इस भयानक असूया दोषको अवश्य दूर करना चाहिये; क्योंकि किसी भी मनुष्यको बुरा समझकर उसमें दोष देखना साधकके लिये महान् हानिकर और परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक है । महाभारतमें श्रीवेदव्यासजीने शुकदेवजीसे कहा है—

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(शान्ति० २५१ । ६)

‘जब मनुष्य मन, वाणी और कियाद्वारा किसी भी प्राणीकी बुराई करनेका विचार अपने मनमें नहीं करता, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ।’

अतएव हमलोगोंको किसीमें भी दोषबुद्धि न करके सबमें गुणबुद्धि ही करनी चाहिये तथा सत्पुरुषोंका सत्त्व और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये, जिससे हममें गुणोंकी वृद्धि होकर हम परमात्माकी प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर हो सकें ।

मधुररस ब्रह्मके संस्पर्शसे सब मन- इन्द्रिय निहाल हो गये

काननि सुनौं स्याम की मुरली, नैननि निरखौं रूप ललाम ।
घ्राननि सूँघौं अंग-गंध सुचि, परसौं त्वचा अंग अभिराम ॥
रसना चखौं प्रसाद मधुर अति, वाणी नित्य करै गुन-गान ।
मन में बस्यौ रहै नित मेरे आठौं जाम मधुर रसखान ॥
करत संग अनविरत अनूपम मन-इन्द्रिय सब भए निहाल ।
पाय मधुर-रस-ब्रह्म-परस रति बढ़त निरंतर निरवधि काल ॥

वरिवस्या-रहस्यका दर्शन

(श्रीभास्कररायकी अपनी टीकाके अनुसार)

(लेखक—डा० सुधीरकुमार गुप्त)

प्रथम अंश

१. भारतीय धर्म और दर्शनमें तन्त्रसाहित्यका भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। इस लेखमें श्रीभास्कररायके वरिवस्या-रहस्यका लेखककी अपनी 'प्रकाश' नामक टीकाके अनुसार संक्षिप्त विषय वर्णन प्रस्तुत किया गया है। तन्त्र-दर्शनमें यह पुस्तक महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

२. शिवमें 'विमर्श' नामक नैसर्गिकी स्फुरत्ता शक्ति है। उसीके योगसे वह जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करता है। इसी शक्तिके परिणमनसे सम्पूर्ण अर्थमयी, शब्दमयी, चक्रमयी और देहमयी सृष्टि उत्पन्न हुई है^१। अर्थमयी सृष्टि शिवसे प्रारम्भ होकर शक्तिपर्यन्त छत्तीस तत्त्वोंके सावाली है। शब्दमयी सृष्टिमें परा आदि वैखरी पर्यन्त शब्द-सृष्टि आती है। चक्रमयीमें बिन्दु आदि भूगृह पर्यन्त और देहमयीमें सूक्ष्म आदि स्थूल पर्यन्त सृष्टिका अन्तर्भाव होता है^२।

३. उसका ज्ञान गायत्रीसे होता है जो शिवके ज्ञानके उपाय, चौदह विद्याओंके सारभूत वेदोंका भी सार है^३।

४. इस गायत्रीके दो रूप हैं—स्पष्ट और अस्पष्ट। यह चारों ही वेदोंमें परम गोपनीय है। गायत्रीमन्त्रके 'तत्सवितुः' आदि तीन पाद तो स्पष्ट हैं, परंतु चौथा पाद अस्पष्ट है। यह चौथा पाद 'परोरजसे सायदोम्' है। यह एक रूप हुआ। श्रीविद्या गायत्रीका दूसरा रूप है^४।

५. यद्यपि तन्त्रराज और सौन्दर्यलहरी आदिमें हादि-विद्याका प्रथम उद्धार बताया गया है, तथापि कादि-विद्याका ही प्राधान्य माना गया है। इसी विद्यासे पोङ्गीकी घटना होता है। इसीमें रहस्यार्थके प्रतिपादक अक्षर हैं। त्रिशतीमें भी इसीका आदर है। त्रिपुरोपनिषद्में इसीको अन्य सब विद्याओंका मूल बताया है। शांखायन श्रृग्वेदमें 'चत्वार इ विभ्रति'^५ कहकर इसीका सर्वप्रथम उद्धार माना

१. वर. १।४।२. वही १।५।३. वर. १।५ पर टीका। ४. वर. १।६।५. वही १।७।६. वर. ५।४७।४।

गया है। योगिनीहृदय आदिमें वर्णित और आगे कहे जानेवाले अर्थोंका स्वारस्य इसीमें पाया जाता है।

६. इस कादि-विद्याको वेदपुरुष 'कामो योनिः कमला' आदि सांकेतिक शब्दोंसे प्रकट करता है, व्यक्त रूपमें नहीं^६। 'कामो योनिः कमला' शांखायन श्रुति है। इस श्रुतिके अनुसार इस विद्यामें प्रयुक्त सांकेतिक शब्दोंका विवरण इस प्रकार है—

काम—क

योनि—ए

कमला—तुरीय (चौथा) स्वर=ई

वज्रपाणि—ल

गुहा—लज्जावीज

हस—स्वरूप

मातरिश्वा—क

अभ्र—ह

इन्द्र—ल

गुहा—लज्जावीज

सकल—स्वरूप

माया—लज्जावीज

७. इस विद्याके तीन कूट हैं—(१) वाग्भव, (२) कामराज और (३) शक्ति। वाग्भवमें श्रीकण्ठ (=अ) के साथ कोषीश (=क्), कोणत्रय (—त्रिकोण) [=ए], लक्ष्मी (=ई), अनुत्तर (=अ) के साथ मांस (=ल्), अर्थात् क् + अ, ए, ई और ल् + अ अक्षर हैं^७।

८. कामराज कूटमें अक्षर (=अ) से पृथक्-पृथक् संयुक्त शिव (=ह्), हंस (=स्), ब्रह्मन् (=क्), वियत् (=ह्), शक (=ल्) आते हैं^८।

९. शक्तिकूटमें शिव (=ह्) और वियत् (=ह्) के अतिरिक्त कामराज कूटके ही अक्षर हैं। इन प्रत्येक कूटोंके अन्तमें एक-एकके परिमाणसे कुछ तीन हल्लेखा जोड़ी जाती हैं^९।

७. वर. १।८।८. वही १।९।९. वही १।१०। १०. वही १।११।

१०. हल्लेखामें बारह अक्षर होते हैं—ज्योम (= ह), अग्नि (= र) और वामलोचना (= ई), बिन्दु (= —), अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना और उन्मनी । बिन्दुसे लेकर अन्तके नौ अक्षरोंकी समष्टि नादसंज्ञक होती है । ये नौ अक्षर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर कालोंमें उच्चारण की जानेवाली ध्वनि-विशेष या वर्णविशेष हैं; क्योंकि चतुःशतीशास्त्रमें नादके अर्थोंका वर्णन मिलता है । योगिनीहृदय, ज्ञानार्णव आदिमें १-भूमि, २-चन्द्र, ३-शिव, ४-माया, ५-शक्ति, ६-कृष्ण, (—मादन ?), ७-अध्व-मादन, ८-अर्धचन्द्र और ९-बिन्दु—इन नौ वर्णोंके समूहको 'मेरु' कहा है, जिससे महात्रिपुर-सुन्दरीके मन्त्र समुद्भूत होते हैं ।

११. प्रथम और तृतीय कूटोंमें १८-१८ और द्वितीयमें २२ अक्षर होते हैं । इस प्रकार यह विद्या ५८ अक्षरोंकी होती है^{११} ।

१२—कालका परमाणु 'लव' होता है । इसका लक्षण यह है कि कमलके पत्तोंके समूहको नुकीली सूईसे भेदन करनेमें जो समय लगता है, वह 'लव' कहलाता है । इस-लिये सूक्ष्मतर कालका मापन या ग्रहण सम्भव नहीं । ऐसे २५६ लवोंकी एक मात्रा होती है । बिन्दुमें १२८ लव होते हैं, अर्धचन्द्रमें ६४, रोधिनीमें ३२, नादमें १६, नादान्तमें ८, शक्तिमें ४, व्यापिकामें २, समनामें १ लव होते हैं और उन्मनामें 'काल'का परिमाण नहीं होता है । इस प्रकार नाद (=नौ अक्षरोंका समूह) का काल २५५ लव या एक लव कम एक मात्रा बनता है । वाक्कूटमें एक लव कम ११ मात्राएँ, कामराजमें एक लव कम ११½ मात्राएँ और शक्तिकूटमें एक लव कम ८½ मात्राएँ होती हैं । इस प्रकार समस्त मन्त्रमें ३ लव कम ३१ मात्राएँ बनती हैं^{१२} । अक्षरोंकी उत्पत्ति कण्ठ आदि स्थानोंमें स्पृष्ट आदि अन्तः और विवार आदि बाह्य प्रयत्नोंमें होती है^{१३} ।

१३. वाक्कूट प्रलयाग्निके तुल्य है और मूलाधार तथा अनाहत चक्रोंके बीचमें व्याप्त है । कामराजकूट करोड़ों सूर्योंके प्रकाशवाला है और अनाहत तथा आशाचक्रके बीचमें व्याप्त है । तीसरा शक्तिकूट करोड़ों चन्द्रोंकी कान्तिके तुल्य है तथा आशाचक्रसे ललाटमध्य तक फैला हुआ है । इस

प्रकार ये कूट छः पञ्चोंमें व्याप्त हैं^{१४} ।

१४. शब्दकी सृष्टिप्रक्रिया इस प्रकार है—जैसे बड़के बीजमें वटवृक्षका सूक्ष्म रूप निहित होता है और उस बीजस्थ सूक्ष्म रूपसे विशाल वटवृक्षकी उत्पत्ति, विकास और हास आदि सम्पन्न होते हैं, इसी प्रकार त्रिपुरसुन्दरी ही शब्द-सृष्टिके सूक्ष्म रूपको धारण करनेवाली है । यही 'परा' शब्दसे कहलाती है और सूक्ष्म शब्द-सृष्टि-शक्तिरूप प्रवृत्तिसे स्थूल शब्दसृष्टिकी निमित्त (= कारण) बनती है । इसे ही 'माति नरति कायतीति च' इस व्युत्पत्तिके अनुसार मातृका कहते हैं । यद्यपि यह परा नामक त्रिपुरसुन्दरी निर्विकार है, तथापि अनादि कालसे चले आनेवाले प्राणियोंके अदृष्टके कारण उसके मनमें निहित विश्वको रचनेकी कामना उत्पन्न होती है^{१५}—कि मैं अनेक हो जाऊँ, अतः मुझे सृष्टि करनी चाहिये^{१६} । इस विश्वसिसृक्षारूप ईक्षण-प्रवृत्तिको ही निमित्त मानकर इसके लिये ही 'पश्यन्ती' पदका प्रयोग किया जाता है । यही 'पश्यन्ती' नामक मातृका करणों (= इन्द्रियों) के मार्गसे उत्पन्न (= प्रकट) होनेके कारण 'उत्तीर्णा' कहलाती है । वामादि आठ शक्तियाँ इसके अवयव हैं । इस प्रकार वह ही व्यष्टि और समष्टिरूपसे नौ प्रकारकी है । उसीसे अविकृत शून्य आदि नौ नाद उत्पन्न होते हैं । नादध्वनि कहलानेवाली इनकी समष्टि 'परा'के समान न तो अति सूक्ष्म है, न वैखरीके समान अति स्थूल है । यही मध्यमा मातृका है । अविकृत, शून्य, स्पर्श, नाद, ध्वनि, बिन्दु, शक्ति, बीज और अक्षर नामोंवाली नादनवक है और मूलाधार आदि छः कमलों-वाले नादमें और नादके अन्तमें ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित है ।

१५. इन नौ नादोंसे अ, क, च, ट, त, प, य, ल नामक नौ वर्णोंवाली वैखरी नामक मातृका उत्पन्न होती है । वैखरीका अर्थ है—(वै) निश्चयसे स्पष्टतर होनेके कारण (खम्) कानोंके विवरमें वर्तमान आकाशरूप श्रोत्रेन्द्रियमें (राति) जाती है, अर्थात् वहाँ अनुभव होती है—सुनायी पड़ती है । इस प्रकार ककारादिमें कत्व आदि वर्णोंके धर्म

१४. वही १ । २०-२१ । तु० क० 'पञ्चकोशोंका सिद्धान्त । अपने व्रतपते व्रत चरिण्यामि' आदि पाँच मन्त्रोंमें भी पाँच कोषोंकी ओर निर्देश मालूम पड़ता है ।

१५. तु०-क. 'कामराजमें समवर्तताधि मगसो रेतः प्रथमं यदासीत्' । ऋ० १० । १२९ । ४ ।

१६. तु०-क. तदैक्षत बहु रूपां प्रजायेय । छ० उ० ६ । २ । ३ ।

११. वही १ । १४ । १२. वही १ । १७-१८ । १३.

वही १ । १९ ।

आर पङ्कज आदि ध्वनियोंके धर्मके अनुभवमें आनेसे मूलाधारसे उत्पन्न हुआ नाद मालाकी मणियोंमें सूत्रके समान वर्णोंमें व्याप्त रहता है। साथ ही षडेमें मिट्टी और वल्लमें तन्तुओंके समान यह नाद वर्णोंसे पृथक् न होकर तद्रूप ही होता है।^{१७}

१६. विन्दु मण्डलाकार होती है और ललाटके मध्य दीपकके समान चमकती है। अर्द्धचन्द्र उस (विन्दु) के ऊपर स्थित है। दीप्ति और रूपमें यह अर्द्धचन्द्र ही है। रोहिणी उससे अगली स्थिति है, रूपमें त्रिकोण है, चन्द्र-च्योत्सनाके समान शुभ्र है। नादका वर्ण पन्नेके समान है और उसका रूप दो विन्दुओंके बीच खड़ी रेखा है। नादान्त विद्युत्की चमकवाला है और बायीं ओर विन्दुसे युक्त हल्के समान है। शक्ति बायीं ओर तिरछी रक्खी हुई दो विन्दुओंसे निकलनेवाली रेखा है। व्यापिकाका रूप विन्दु है जिसपर त्रिकोणका केन्द्र ठहरा हुआ है। व्यापिकाकी चौटीकी विन्दु हयानेसे यह उन्मना हो जाती है। इससे ऊपर महाविन्दु है। शक्ति और अगली दो स्थितियोंमें १२ सूर्योंका इकट्ठा प्रकाश होता है।^{१८}

१७. प्रथम कूटके नादको दूसरे कूटके नादके साथ तथा दूसरे कूटके नादको तीसरे कूटके नादके साथ उच्चारण करे, अलग-अलग उच्चारण न करे।^{१९} तीसरे कूटके नादको पहले दो कूटोंके विन्दुसे प्रारम्भ करके समनापर समाप्त करते हुए उच्चारण करे। समनाको उन्मनीके अन्तर्भूत कर दे।^{२०}

१८. इस विद्यामें तीनों कूटोंको पृथक्-पृथक् वा समष्टिरूपमें प्रयुक्त करनेसे सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्या (=नामरहित)—इन चार बीजोंकी भावना (=कल्पना) की जाती है।^{२१} इन चारों बीजोंके भी इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि रूपमें पुट, धाम, तत्त्व, पीठ, अन्वय, लिङ्ग और मातृकामें प्रयोगसे चार भिन्न रूप हो जाते हैं।^{२२}

१७. व० २०, अक्षर सं०, १९४८, पृ० १७—१८।

१८. वही १। २२—२७। १९. वही १। २८।

२०. वही १। २९—३०। २१. वही १। ३२।

२२. वही १। ३३।

१९. अनाख्या तिरोधान और अनुग्रहकी समष्टिको कहते हैं। अथवा यह कृत्यपञ्चकोंमें उदासीनताका अवलम्बन नामक (या—रूपी) स्थिति-विशेष है। यहाँ पुटादि षट्क और धाम-सप्तक पृथक्-पृथक् तीन रूपवाले होते हैं। एक-एक उनकी समष्टि होती है। इस प्रकार ये चार-चार हैं। पुट—शात, ज्ञान, श्रेय और इन (तीनों) का (पारस्परिक) सामरस्य हैं। धाम—चक्र, नाथ, दशा, शक्तित्रय, आत्मरूप सात हैं। इनमें (चक्र—) अग्नि, सूर्य, सोम और ब्रह्म चक्र हैं; (नाथ—) मित्रेश नाथ, पञ्चीश नाथ, उड्डीश नाथ^{२३} और आश्वर्यानन्द नाथ हैं; (दशा)—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया हैं; शक्तियाँ—वामा, ज्येष्ठा, रौद्री और शान्ता हैं। इच्छा, ज्ञान, क्रिया और अम्बिका भी तथा कामेश्वरी, ब्रजेश्वरी, भगमालिनी और महात्रिपुरसुन्दरी भी शक्तियाँ हैं। तथा आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा आत्माएँ हैं। तत्त्व—आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व, शिवतत्त्व और सर्वतत्त्व हैं। पीठ—कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और उड्घाण हैं। ये ही समय और आम्नाय भी कहलाते हैं। लिङ्ग—स्वयम्भू, वाण, इतर और पर हैं। पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी और परा मातृकाएँ हैं। अथवा, धामके पदार्थ रूपमें वर्णित तीनों शक्तियाँ मातृपदके अर्थ हैं।^{२४}

२०. सृष्टिकर्म तीन प्रकारका होता है—सृष्टिकी रचना, उसकी स्थिति और उसकी संहति। इसी प्रकार स्थितिकर्म भी स्थिति-सृष्टि, स्थिति-स्थिति और स्थिति-संहति रूपमें त्रिविध है। संहति-सृष्टि, संहति-स्थिति और संहति-संहति रूपसे संहति भी तीन प्रकारकी है। भारती, पृथिवी, रुद्राणीके साथ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र क्रमसे इन उपर्युक्त सृष्टि आदि त्रिकोंके अधिपति हैं।

२१. भाव यह है कि (i) प्रथम कूटमें 'क' ब्रह्मका ही रूपान्तर है। त्रिकोण भारती-स्वरूप है। शान्ता, अम्बिका और आत्माका मिथुनरूप त्र्यं स्वर विष्णुस्वरूप है। 'ल' पृथिवी-स्वरूप है। 'ह' रुद्रस्वरूप है। 'र' रुद्राणीस्वरूप है। (ii) द्वितीय कूटमें मध्यम 'ह' को छोड़कर शेष अक्षरोंकी यही स्थिति है। (iii) तृतीय कूटमें दूसरे कूटका मध्यम परित्यक्त 'ह' ब्रह्मस्वरूप है। इस कारण भारतीसे

२३. मुपा० उड्डीशनाथ। २४. व० १। ३३ की टीका।

आरम्भ करके ही 'स' से आरम्भ किया गया है ।

२२. इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी त्रिमूर्ति अपनी-अपनी शक्तियों—भारती, पृथिवी और रुद्राणीके साथ सृष्टिके तीनों कर्मोंकी अधिपति है । तथा (शक्ति-कूटमें) मन्त्रके विभिन्न अक्षरोंके स्वरूपवाली है ।^{२५}

२३. प्रथम कूटकी हल्लेखा (ह्रीं) में स्थित कामकला (ई) में वर्तमान गुरुमुखमात्रसे ही ज्ञातव्य सपरार्थकलाको वह्निकुण्डलिनी कहते हैं ।

द्वितीय कूटमें यह सूर्यकुण्डलिनी और तृतीय कूटमें सोमकुण्डलिनी कहलाती है । बिन्दु आदिकी समष्टिरूप नाद^{२६} यहाँसे उत्पन्न होता है और यह दीपशिखाके ऊपर वर्तमान काजलकी पङ्क्तिके समान है । अनाहत्से आरम्भ होकर उत्पन्न हुआ नाद तीनों प्रकारकी सृष्टिरूप तीनों लोकोंके मोहन, सम्पूर्ण आशाओंका परिपूरक और सर्व-संशोभणरूप तीनों चक्रोंका रूपान्तर ही है ।

२४. भ्रूमध्यसे आरम्भ होकर उत्पन्न हुआ नाद तीन प्रकारके स्थिति-कर्मरूप सम्पूर्ण सौभाग्यदायक, सम्पूर्ण प्रयोजनोंके साधक और सबकी रक्षाके आकर तीनों चक्रोंका अन्य रूप ही है । बिन्दुस्थानसे आरम्भ होकर उत्पन्न हुआ नाद त्रिविध संहति-कर्मरूप सम्पूर्ण रोगोंका नाशक, सब सिद्धियोंको देनेवाला और सम्पूर्ण आनन्दमय-रूप तीनों चक्रोंका ही दूसरा रूप है ।^{२७}

२५. जपकालमें पाँच अवस्थाओं, छः शून्यों और सात विषुवतोंका ध्यान आवश्यक है । अवस्थापञ्चकमें पहली अवस्था जागरावस्था है । यह अवस्था वाक्, हाथ, पैर, मूत्रेन्द्रिय और उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियों और नाक, कान, आँख, जिह्वा और त्वचारूप पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त होकर जगत्का व्यवहार सम्पन्न करना है । इसके कारण ज्ञानको प्रकाश रूपमें तृतीय कूटस्थ ५२ में विचारना चाहिये । भाव यह है कि इन्द्रियोंके व्यवहारकी सम्पादिका जागरावस्थाका मूल प्रकाश तृतीय कूटके ५२ से व्यक्त होता है ।^{२८}

२६. तृतीय कूट (हल्लेखा) की कामकला (ई) में चारों अन्तःकरणों—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तके

व्यवहाररूप स्वप्नावस्थाके उत्पादक प्रकाशकी स्थिति होती है । दूसरे कूट (=गल) के 'ल' को भी इसी प्रकार हृदयज्जम करना चाहिये ।^{२९}

२७. तीसरे कूटकी बिन्दुमें सुषुप्ति होती है, जिसमें चारों अन्तःकरण और जीवात्मा भी लीन हो जाते हैं ।^{३०} नादके द्वारा तुरीय अवस्थारूप पूर्ण चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है । वह अर्धचक्र आदि तीन अक्षरोंमें व्याप्त रहती है ।^{३१}

२८. मानवोंकी वर्णनाके क्षेत्रसे बाहर पूर्ण आनन्दरूप तुरीयातीत अवस्था नादान्तसे प्रारम्भ होनेवाले पाँच अक्षरोंमें स्थित है ।^{३२}

२९. तीसरे कूटके रेफ, बिन्दु, रोधिनी, नादान्त और व्यापिका स्थानोंमें मयूरपिच्छ (चन्द्रक) के आकारके पाँच शून्य होते हैं । उन्मनामें छठा रूपहीन महाशून्य होता है ।^{३३}

३०. विषुवत् सात हैं—प्राण, मन्त्र, नाडी, प्रशान्त, शक्ति, काल और तत्त्व । ककाररूपी वायु ही प्राण है । प्राण, आत्मा और मनकी एकता ही प्राणविषुवत् है ।^{३४} प्रथम कूटके नादकी चार बीजोंसे एकता ही मन्त्रविषुवत् है । ये चार बीज तीनों कूटोंको (i) पृथक्-पृथक् (व्यष्टि-रूपमें) और (ii) एक साथ (=समष्टिरूपमें) ग्रहण करने, (iii) अपनी आत्माका मूलाधारसे उठे हुए नादसे योग करने और (iv) उन्हें अनाहत्से प्रारम्भ होकर ब्रह्मरन्ध्रतक समस्त आधारों (=षट् चक्रों)में व्याप्त नादके रूपमें समझनेसे प्राप्त होते हैं ।^{३५} मूलाधारसे उत्पन्न हुए नादको प्रत्येक चक्रके ऊपर और नीचे स्थित (अतः संख्यामें) बारह ग्रन्थियोंका भेदन करते हुए सुषुम्णा नाडीके मार्गसे ब्रह्मरन्ध्रतक फैलाकर (उच्चारण करनेसे) उत्पन्न हुआ नाडी, नाद और अर्ण (=वर्ण-पङ्क्ति) का संयोग नाडीविषुव कहलाता है ।^{३६}

तृतीय कूटके सात स्थानों—रेफ (=२), कामकला (=ई) तथा हार्दकला (=ह्रीं) के बिन्दुसे नादान्तपर्यन्त

२९. वही १ । ३८ । ३०. वही १ । ३९ । ३१. वही १ ।

४० । ३२. वही १ । ४१ । ३३. वही १ । ४२-४३ ।

३४. वही १ । ४३ आ । ३५. वही १ । ४४-४५ ।

३६. वही ४५ आ-४६

२५. वर. १ । ३४-३५ । २६. देखो, वही १ । १२-१३ ।

२७. वही १ । ३६ । २८. वही १ । ३७ ।

अक्षरोंके उच्चारणसे जो सूक्ष्मतर नाद उत्पन्न होता है उस सूक्ष्मतर नादके शक्तिते लय (=ऐक्य) का चिन्तन प्रशान्त-विषुव है।^{३०} शक्तिस्थानसे ऊपर उठे हुए सूक्ष्मतर नादका व्यापिकाका उल्लङ्घन करके समनामें लयकी भावना करना शक्तिविषुव है।^{३१} समनासे ऊपर उठे हुए अत्यन्त सूक्ष्मतर नादका उन्मनामें लय-चिन्तन का विषुव है।^{३२}

३१. तत्त्वविषुव—यत्नीय कमलोंमें सबसे नीचेके दो कमल अकुल-पद्म कहलाते हैं। शेष सब कुल-पद्म हैं। ककारसे आरम्भ कर उन्मनापर समाप्त होनेवाले श्रीविद्याके कृत्योंके सब अवयवोंमें व्यापक, अकुल पद्मसे उन्मनातकके प्रदेशोंमें स्थित तथा ३३ (=अष्टयुष्ट) निमेष और ३१७ त्रुटियोंका समय लेते हुए नादका उच्चारण करनेपर तत्त्वज्ञान शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। यही तत्त्वविषुव है जो चैतन्यके ज्ञानका मूल (=प्रमुख) साधन है।^{३३} यद्यपि विद्याक्षरोंका आरम्भ मूलाधार कुलपद्मसे ही होता है तथापि चक्रराजकी सकला नामक भावनाका आरम्भ सबसे नीचेके सहस्रदल कमलसे होनेके कारण तथा कुल और अकुल विद्याओंमें भेद न होनेके कारण श्रीविद्याका आरम्भ भी उसी अकुल-पद्मसे बताया गया है। आँखके स्पन्दनके कालके बराबर एक निमेष होता है। इसका तीसवाँ भाग तत्पर कहलाता है। तत्परका सौवाँ भाग त्रुटि कहलाता है। अतः त्रुटि

निमेषका तीन हजारवाँ अंश होता है। इस क्रमसे नादके इस उच्चारणमें १०.८१७ त्रुटियोंका समय लगता है।^{३४}

३२. पाँचों अवस्थाओं, छहों शून्यों, सातों विषुवों और नौओं चक्रोंको समझते हुए तथा मन्त्र (=मनु) के सत्य अर्थको जानते हुए (विद्याके) अक्षरोंका उच्चारण करना 'जप' कहलाता है।^{३५}

३३. इस 'जप' वर्णनमें तीन नादोंको तीन चक्र मान-कर छः चक्रोंसे मिलाकर नौ चक्र कहा गया है। चक्र-संकेतमें इन तीन नादरूप चक्रोंके स्थानपर सकल, निष्कल और सकल-निष्कल नामक चक्रोंका परिगणन किया है। सकल चक्रमें (i) अकुल सहस्रार (ii-vi) मूलाधार आदि पाँच चक्र (vii) सूक्ष्म जिह्वा, (viii) भ्रमस्थ और (ix) बिन्दु स्थानमें तीनों लोकोंके मोहन आदि नौ चक्रोंका ध्यान किया जाता है। निष्कल चक्रमें बिन्दुसे प्रारम्भ करके उन्मनातक उसका ध्यान किया जाता है। तीसरे, सकल-निष्कल चक्रमें महाबिन्दुमें ही उसका चिन्तन किया जाता है।^{३६}

३४. विद्याके ५८ अक्षर हैं। उनमेंसे प्रथम कूट और द्वितीय कूट—प्रत्येकके बिन्दु आदि नौ-नौ अक्षरों—अर्थात् कुल १८ अक्षरोंको निकालकर शेष ४० अक्षरोंका उच्चारण ही इस जपमें अभिप्रेत है।^{३७}

भगवत्कृपा दीनकी सम्पत्ति है

भय मत करो, न साहस छोड़ो, रखो प्रभुपर दृढ़ विश्वास ।
प्रभुकी कृपा सहज कर देगी, सब बाधा-विघ्नोंका नाश ॥
करते रहो सदा श्रद्धासे प्रभुके ही प्रीत्यर्थ प्रयास ।
जा पहुँचोगे सुखपूर्वक तुम परम लक्ष्य—भगवत्के पास ॥

× × × ×
भगवत्कृपा दीनका धन है, है उसपर उसका अधिकार ।
नहीं योग्यताकी आवश्यकता, नहीं देश-कुल-धर्म-विचार ॥
नहीं प्रश्न 'अधिकारी' का कुछ, नहीं शर्त कुछ, नहीं करार ।
हो विश्वास परम दृढ़ केवल दीनबन्धुपर विना विचार ॥

३७. वही ४७-४३ अ। ३८. वही १। ४८आ। ३९. वही १। ४९अ। ४०. वही १। ४९आ-५१। ४१. वही टीका। ४२. वही १। ५२। ४३. वही टीका। ४४. वही ।

शिवका विषपान

(लेखक—डा० श्रीवासुदेव ऋणजी अग्रवाल एम्० ए०, पी०एच० डी०)

शिवकी लीलाओंमें उनके द्वारा विषपान करनेकी कथा अत्यन्त सार्थक और महत्वपूर्ण है। कहा जाता है कि जिस समय देवता और असुर समुद्र-मन्थन कर रहे थे, उस समय कई रत्न उत्पन्न हुए। उन्हींमें प्रमथः हालाहल विष भी प्रकट हुआ। उसके दसों दिशाओंमें व्याप्त लपटोंसे देवता जलने लगे। किसीको यह साहस न हुआ कि उस विषको ग्रहण कर सके। तब देवोंने मिलकर शिवजीसे प्रार्थना की कि वे विषको शान्त करें। शिवने परिस्थिति समझकर इसे स्वीकार कर लिया। इसी कथाकी पृष्ठभूमिमें गुणाईजीने लिखा है—

जस्त सकल सुर बृन्द, विषम गरल जेहि पान किया।

तेहि न भजसि मन मंद को कृपालु संकर सरिस ॥

सचमुच विष पीकर शंकरने समस्त संसारपर बड़ी कृपा की, अन्यथा हालाहल विषकी लपटोंसे प्राणिमात्र भस्म हो जाते। विषको पचानेकी सामर्थ्य शिवमें ही थी। इसी पराक्रमके कारण वे देवदेवता महादेव कहलाये। विष साक्षात् मृत्युका रूप है जो प्राणोंका लोभ कर देता है। विषपानके कारण ही शिवजीकी संज्ञा मृत्युञ्जय हुई। वैसे तो सभी देवता असुर माने जाते हैं, किंतु विषके रूपमें साक्षात् स्थूल मृत्युसे लोहा लेकर और उसे अपने शरीरमें पचाकर वास्तविक मृत्युञ्जयकी उपाधि शिवको ही प्राप्त हुई। विषपान करनेपर भी शिवके शरीरसे स्वर्गीय प्राण-शक्तिकी सुगन्धि ही निकलती रही। मृत्युकी दुर्गन्धि उनका शरीर न कर सकी। वे मृत्युसे मुक्त होकर अमृतके गर्भमें प्रतिष्ठित हो गये। लिङ्ग-पुराणमें समुद्र-मन्थनकी कथाका उल्लेख करते हुए लिखा है कि विषपान करनेके अनन्तर शिवजी हिमालयकी कन्दरामें एकान्तमें जाकर बैठ गये। देवता उनकी स्तुति करना चाहते थे कि उन्होंने विषपान-जैसा महान् पराक्रम किया। उन्होंने देखा कि शिवजी हिमालयकी गुफामें ध्यानमग्न हैं। देवता वहीं पहुँचे और उनकी प्रशंसा करने लगे कि 'महाराज! आपने जैसा पराक्रम किया वैसा आजतक किसीने नहीं किया था।' शिवजीने उत्तर दिया कि 'मैंने यह स्थूल विष पीकर कुछ भी विचित्र बात नहीं की। मेरी दृष्टिमें वस्तुतः बड़ा वह है जो इस संसारमें भरे हुए विषको पचा सकता है। संसारको निचोड़नेसे या अनुभव

करनेसे जो विष सामने आता है वह विष स्थूल विषकी अपेक्षा कहीं अधिक भयंकर है। सबके लिये वह प्रकट होता है। उसपर विजय पाना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

इस कथाके मूलमें एक और भी प्राचीन कल्पना है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति समुद्रके सामने अनन्त और अपार है (पुरुषो वे समुद्रः)। इस समुद्रमें मनरूपी जलराशि भरी हुई है। नित्यप्रति उसीका मन्थन होता रहता है और उसके मन्थनसे गुण और दोष दोनों प्रकट होते हैं। जो गुण या सत् पक्ष है वह अमृतका रूप है और जो दोष या असत् पक्ष है वह विषका। जो दोषोंको जीतकर मनके शिवात्मकरूपकी रक्षा कर सकता है वही सच्चा शिव है। शिवके विषपानकी अन्य व्याख्या वैदिक प्रतीकवादके अनुसार इस प्रकार है—

यह विश्व और प्रत्येक प्राणी अग्नि और जलके संयोगसे बना है (अग्नीषोःमात्मकं जगत्) अग्नि पिता और जल माता है। अग्नि देवों और जल असुरोंका निवास है। जलका अधिपति वरुण, असुरोंका अधिपति है। अग्निका अधिपति रुद्र महादेव है जो सब ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है (अग्निर्वैरुद्रः। शतपथ० ५।३।१।१०)। अग्नि ज्योति, दिन और ऊष्माका रूप है एवं जल रात्रि, तम और हिमका रूप है। इन प्रतीकोंकी व्याख्या प्राचीन वैदिक दर्शनका अङ्ग थी। तदनुसार अग्नि या रुद्र प्राणाग्निकी संज्ञा थी और जल उसके विपरीत प्राणके निराकरणका सूचक। मनुष्यके अपने शरीरमें यह बात प्रतिक्षण प्रत्यक्ष भटित हो रही है। यहाँ रक्त दो प्रकारका है—एक लेहित और दूसरा नील। और दोनोंके प्रवाहित होनेकी धमनी नाड़ी और शिराएँ अलग-अलग हैं। शुद्ध रक्त लाल धमनियोंद्वारा शरीरमें अभिसरण करता है। उसमें प्राणवायु या अमृतका संस्पर्श और शक्ति देखी जाती है। वह जीवनका पोषक है। नीले रंगकी नाड़ियोंमें अशुद्ध रक्तका प्रवाह शरीरस्थ विषोंको लेकर हृदयकी ओर बहता रहता है और वहाँ प्राणवायुके सम्पर्कसे पुनः शुद्ध किया जाता है। इस प्रकार अमृत और विषका द्वन्द्व या चक्र हर समय घूमता रहता है। इसीसे जीवनकी सत्ता बनी रहती है। यदि प्राणात्मक

अग्नि शरीरकी नस-नाड़ियों और कोशोंमें उत्पन्न होनेवाले मल या विषको दग्ध करके शुद्ध न करे तो अत्यधिक विष-संचयसे मृत्युका होना सम्भव है। अतएव यह कल्पना यथार्थ है कि शरीरकी शिवात्मक प्राणाग्नि निरन्तर विषका पान करती रहती है। इस विषम गरलका शोषण और पाचन होनेसे ही शरीरकी देवात्मक शक्तियाँ या इन्द्रियाँ स्वास्थ्यलाभ करती हैं। अमृत और मृत्युके संघर्षका यह नाटक प्रतिक्षण जीवनकी रक्षाके लिये प्रत्येक प्राणीके अघ्यात्म-केन्द्रमें ही रहा है। मनुष्य पशु-पक्षी और वृक्ष-वनस्पति सब अपनी शिवात्मक प्राणशक्ति या प्राणाग्निके द्वारा विश्वरूप मृत्युका परामर्श करते हैं। अतः शिवके विषपानकी कथा-कहानी मात्र नहीं। प्रत्येक पुरुषरूपी समुद्रमें जो जलीय रत्नोंका मन्थन हो रहा है, उसीसे विष और अमृत दोनों उत्पन्न होते हैं। प्राण अमृत और अपानके वेग विपाक्त होते हैं। प्राणकी विजय और अपानकी पराजय विष और अमृतका ही रूपक है। इस प्रकारके विष, भूत प्राण और मन तीनों धरातलोंपर उत्पन्न होते रहते हैं। इन तीन अग्नियोंके सम्मिलित रूपको वैदिक परिभाषामें वैश्वानर कहा जाता है। प्रत्येक प्राण-केन्द्रमें इसकी प्रतिष्ठा है।

अयमग्निर्वैश्वानरो यो यमन्तः पुरुषे ।

(शनपथ० १४ १८ । १० । १ ।)

शरीरस्य वैश्वानर सूर्यरूपी विराट् वैश्वानरसे निरन्तर शक्ति प्राप्त करता रहता है। अग्नि, वायु, आदित्य—इन तीन अग्नियोंकी सत्ता अघ्यात्म और अधिदैवत दोनोंमें है। दोनों एक दूसरेसे संयुक्त या मिले रहते हैं। विराट् वैश्वानर शक्तिशाली महासुपर्णके समान है और अघ्यात्म वैश्वानररूप प्राणाग्नि भूमिस्थ वर्तिका या वटेरके समान है। ब्रह्मके सुपर्णने अपने बलसे भूमि या पञ्चभूतोंकी इस वर्तिकाको अपने दृढ़ पंजोंमें पकड़ रक्खा है।

प्रसां सुपर्णस्य बलेन वर्तिकास्—और जबतक दोनोंका यह सम्बन्ध अक्षुण्ण है तभीतक जीवन सकुशल है। इस वर्तिकाके रक्षक दो अश्विनीकुमार या प्राणापान हैं। एक ओर अमृतका महासमुद्र है और दूसरी ओर मृत्युसे आच्छादित वरुणके आसुरी रूपमें प्रवाहसे वक्षित सड़े हुए जल है। इन्द्रका प्रतिनिधि सुपर्ण एवं वरुणके प्रतिनिधि नाग हैं। ये ही सौपर्ण्य और काद्रवेय कहलाते हैं। सुपर्णोंकी माता विनता और नागोंकी कद्रु है जिनके पारस्परिक

द्वन्द्वकी महती कथा पुराणोंमें आयी है। उसका मूल बीज ब्राह्मण ग्रन्थों और वेदोंमें है। प्रसिद्ध है कि सुपर्ण या गरुड़ अपने पंखोंकी शक्तिसे स्वर्गतक पहुँचकर वहाँसे अमृतका थल लाये थे। विषसे भरे हुए नाग भी अमृतका भाग चाहते हैं; किंतु वे केवल उन कुशाओंको ही चाट सके जिनपर अमृतका थल रक्खा गया था। कुशाओंको वैदिक भाषामें बर्हिष् भी कहते हैं। सर्वप्रथम पुरुषके निर्माणमें कुशास्पर्श नस-नाड़ियोंमें ही अमृत-जलसे प्रोक्षण किया जाता है। विष तो केवल दूरसे ही प्राणधाराओंका स्पर्श कर पाता है। उन धाराओंमें विषका संचार साक्षात् मृत्युका रूप है।

अमृत और मृत्युका यह द्वन्द्व विश्वव्यापी है। सूर्यकी रश्मियोंमें भी ये दोनों तत्त्व हैं। प्रत्येक सूर्य-रश्मि प्रकाश और ताप उत्पन्न करती है। प्रकाशसे अमृत और तापसे मृत्युका जन्म होता है। प्रकाशकी किरणें पोषक और तापकी रश्मियाँ विनाशक होती हैं। इन्हींके मेलसे सूर्यका वर्णलवक या रंगोंकी पट्टी बनती है। प्रत्येक रश्मि उसीका रूप है। इसे ही वैदिक परिभाषामें नील-लोहित इन्द्रधनुष कहा जाता है। रुद्रका एक स्वरूप या नाम वेदोंमें त्रात्य है। त्रात्य वह स्वरूप है जो सृष्टि यज्ञसे पूर्व सब दिशाओंमें अधिकतम वेगसे विचरनेवाला रौद्र पुरुष है। वह त्रात्य जिस धनुषको धारण करता है उसका उदर या झुका भाग नील और पृष्ठ भाग लोहित कहा गया है। नील छोटी रश्मियाँ और लोहित बड़ी रश्मियाँ हैं जैसा कि किरणोंकी नीली और लाल रंगकी पट्टियों (स्पेक्ट्रा) में देखा जाता है।

पुराणोंमें भगवान् शंकरका एक अतिप्रिय नाम नील-लोहित भी है। उनका कण्ठ नील और शेष शरीर लोहित है। कण्ठ आकाशका प्रतीक है, जहाँसे शब्दका उदय होता है और शेष भारभूत कवन्ध या शरीरके प्रतीक हैं। इन चारोंमें विश्वकी सत्ता अपना प्रभाव प्रकट कर सकती है या उन्हें दूषित कर सकती है। किंतु चाहे जितना हालाहल विष हो वह अनन्त सूक्ष्म आकाशमें विलीन हो जाता है और उसे दूषित नहीं कर पाता। आकाशकी वायु विषसे दूषित हो सकती है, किंतु आकाश नहीं; वह पञ्चभूतोंमें सबसे अधिक विभु या व्यापक है। वेदान्तदर्शनमें तो आकाशको ब्रह्मका स्वरूप कहा गया है। (आकाशस्य तल्लिङ्गाद्) अर्थात् ब्रह्मके समान ही आकाश भी तत्स्वरूप है। वह अव्यक्त है और वह शब्दद्वारा मूर्त होता है। जैसे ब्रह्म

विश्वद्वारा मूर्त होता है। इस प्रकार जो कण्ठ-देश आकाशका अध्यात्म केन्द्रमें स्थान है, वहाँ ही भगवान् शिवने विषको स्थान दिया और नीलकण्ठ कहलाये। कहना चाहिये कि विष भी वहाँ अमृत बनकर ही रह पाता है और भगवान् की मृत्युंजय उपाधिको चरितार्थ करता है। योगविद्याके अनुसार पञ्चभूतोंके पाँच चक्र हैं, जिनके केन्द्र मेरुदण्डमें हैं। उनमें पाँचवाँ विशुद्ध चक्र कण्ठ-देशमें माना जाता है। उसका तत्त्व आकाश है। वह सबसे ऊपर है, उससे नीचे चार चक्र और हैं। उनमें हृदयगत अनाहत चक्रका अधिपति वायु है। उदरमें जठराग्निके रूपमें क्रियाशील मणिपूर चक्रका अधिष्ठाता अग्नि है। उदरस्थ देशमें क्रियाशील जलोसे अधिष्ठित स्वाधिष्ठान चक्र है, जो प्रजनन शक्तिका नियामक है। मूलाधार चक्रका देवता पृथ्वी है, जिससे विसर्जन किया जाता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत—इन चारों चक्रोंसे जो चार मल विनिर्जित किये जाते हैं, वे विषसे भरे हुए होते हैं। यहाँतक कि अनाहत चक्रमें क्रियाशील वायुके भी शुद्ध और अशुद्ध दो रूप हैं। प्रत्येक क्षणमें भीतरकी विषदूषित वायु बाहर आती रहती है और बाहरके अमृतको पीकर पुनः भीतर लौटती है। यह विधान प्रकृतिके प्रत्येक प्राणमें रहता है। प्राण और अपानके चक्रात्मक व्यापारका नाम ही जीवन है; किंतु अनाहत या चौथे चक्रसे ऊपर जब हम कण्ठदेशीय विशुद्ध चक्रकी ओर देखते हैं तो वहाँसे उत्पन्न होनेवाले सूक्ष्म शब्दमें कोई स्थूल विष नहीं दिखायी पड़ता। शब्दके दो रूप हैं—एक सूक्ष्म अर्थ और दूसरा स्थूल अक्षर। सूक्ष्म अर्थका सम्बन्ध मनसे होता है और स्थूल शब्दका सम्बन्ध नीचेके चार अङ्गोंसे—विशेषतः नाभि और हृदयसे होता है, ऐसा शिक्षा-शास्त्री शब्दोंकी तरङ्गोंके विषयमें कहते हैं। मन या चिन्तनका सम्बन्ध मस्तिष्कके सहस्रदल कमलसे है, जहाँ भगवान् शिवका निवास माना जाता है। वहाँ आज्ञा या ज्ञानका चक्र है। जाननेकी सब क्रियाएँ वहाँसे होती हैं। वह अमृतका लोक है। भगवान् शिवके मस्तकपर विराजमान चन्द्रमा उसी अमृतका प्रतीक है, जो सदा शीतल रहकर अमृतकी वर्षा करता रहता है। जितना भी स्थूल केन्द्रीय नाड़ी-जाल है, सब उस अमृतसे सिञ्चित होकर अमृतत्व प्राप्त करते हैं। उससे शरीरस्थ हलाहल विषकी ज्वालाएँ शान्त होती रहती हैं। अग्निविद्याके ये विभिन्न रहस्य हैं। शरीरस्थ भगवान् शिवकी महिमा और अमृतमयी

सोमात्मक शक्तिको कौन पूरी तरह जानता और कह सकता है।

शिवके विष-पानकी कथा कोई इतिहासका तथ्य नहीं जो किसी सुदूर अतीतमें घटित हुआ है। किंतु यह तो नित्यकी लीला है, जो मन, प्राण और पञ्चभूतोंके धरातलपर नित्य होती रहती है। ईश्वरकी दिव्य रचनाका यह सर्वोत्कृष्ट नियम है कि यहाँ अमृत या देवोंकी विजय और विष या असुरोंकी पराजय निश्चित है। कहा गया है कि जब प्रजापतिने देवोंकी सृष्टि की, तब अमृत, ज्योति और सत्य इनका प्रादुर्भाव हुआ एवं जब असुरोंकी सृष्टि की तब मृत्यु, तम और अमृतका जन्म हुआ। जैसे ही शुद्ध चित्-शक्ति या मन देवलोकसे पञ्चभूतोंके धरातलपर अर्थात् भौतिक शरीरमें आता है, तभी वह मलोंसे लित बन जाता है। उस चित्तकी शुद्धि निरन्तर आवश्यक है और वह सहस्रदल कमलमें निवास करनेवाली भगवान् शिवकी चिन्मय शक्तिसे ही सम्भव है। समस्त चर और अचर भगवान् शिवकी भावमयी शक्तिसे निर्मित हैं। भूतोंके अशुद्ध भाव चिन्मय आत्म-तत्त्वके शुद्ध भावोंसे पवित्र किये जाते हैं। अमृत और विषका यह तारतम्य सदा ध्यानमें रखने योग्य है। भगवान् शिवके विष-पानका मार्मिक संकेत उसी ओर है। स्थूल विषका पान करना अपेक्षाकृत सरल है; किंतु सूक्ष्म भावोंमें व्याप्त मानस-विषको वशमें करना ही सच्चा पराक्रम—शिवत्वका लक्षण है।

शिवके शरीरमें सर्प लिपटे रहते हैं, ऐसी पुराणोंकी कल्पना है। सर्प साक्षात् विष या मृत्युका लक्षण है। किंतु अमृतस्वरूप शिवपर उस विष या मृत्युका कोई प्रभाव नहीं होता। मानसिक या मनन-समाधिके आदिदेवता शिव मनस्तत्त्वके अधिष्ठाता हैं। मनसे ही वे मृत्युञ्जय बने हैं। ऋग्वेदकी कल्पनाके अनुसार शिवके तीन नेत्र हैं। अर्थात् सूर्य, चन्द्र और अग्नि। सूर्यको पिंगला या यमुना, चन्द्रमाको इडा या गङ्गा और अग्निको सुषुम्ना या सरस्वती भी कहा जाता है। इसी कारण शिवकी संज्ञा त्र्यम्बक है। इन तीनोंमें भी जो सुषुम्ना या सरस्वती है, वह सबसे मुख्य शक्ति है। वह सरोवरसे निकलनेवाली धारा है। मन ही वह दिव्य सरोवर है, जहाँसे सुषुम्ना या सरस्वतीका जन्म होता है। वह सरस्वती सबसे अधिक पवित्र धारा है। (पात्रिका नः सरस्वती) अमृतके विचारोंके अनेक वेग उसीसे जन्म लेते हैं, जो पृथ्वी और आकाशमें व्याप्त हो जाते हैं।

सूर्य और चन्द्रके द्वन्द्वात्मक स्पन्दनको नियमित करनेवाली धारा सरस्वती ही है। सूर्यको वैदिक भाषामें धर्म या द्रव्य कहते हैं, जिसका अर्थ गरमी है। चन्द्रमाको हिम कहा गया है। धर्म और हिम—दोनों मध्यस्थ अग्निके ही दो रूप हैं। एकमें ताप और दूसरेमें प्रकाशका स्रोत है। त्र्यम्बक शिवका विशिष्ट रूप सुगन्धिमय है। अर्थात् जब शरीरकी प्राणशक्ति

सब दोषोंका शमन कर देती है, तब शरीर-संचारी रसोंसे दुर्गन्धि हट जाती है और सुगन्धि उत्पन्न होती है। शुभ गन्धको योगका प्रथम लक्षण कहा है। दूषित गन्ध मृत्युकी ओर और शुभ गन्ध अमृतकी ओरसे जाती है। अतएव शिवके मृत्युञ्जय मन्त्रमें यही प्रार्थना की गयी है कि हम मृत्युसे छूटें, अमृतसे नहीं। (मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्)।

निरतिशय सुखकी प्राप्ति और आत्म-साक्षात्कार

(लेखक—आचार्य श्रीरामप्रतापजी शास्त्री)

निरतिशय सुख-प्राप्ति उस अवस्थाका नाम है—जहाँ परम सुखकी प्राप्ति होनेपर किसी प्रकारके अन्य सुखकी अभिलाषा न रह जाय। दूसरे शब्दोंमें परम सुख मिल जानेपर प्राप्तव्य कोई वस्तु ही नहीं रह जाती है। आत्यन्तिक सुख वही है, जिससे बढ़कर कोई दूसरा सुख होता ही नहीं है। इसी परम लक्ष्यको चरम-लक्ष्य, परम-गुरुपार्थ, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य आदि विभिन्न शब्दोंमें अभिहित किया गया है और इसकी प्राप्तिके अनन्तर किसी प्रकारकी कामना या इच्छाकी उत्पत्ति होती ही नहीं है। परमार्थका अर्थ ही यह है कि उस वस्तुकी प्राप्ति हो जाय, जिसके पा जानेपर पुनः और किसी वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा न रह जाय। वस्तुतः कोई ऐसी वस्तु ही शेष नहीं रह जाय, जिसके लिये इच्छा उत्पन्न हो। इसीको 'निरतिशय सुख' या 'आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति' कहा जाता है। इसीलिये भगवती श्रुति कहती है—

न स भूयोऽभिजायते सोऽमृतत्वाय कल्पते।

अस्तु ! सृष्टि-प्रतिपादन करनेवाली जितनी श्रुतियाँ हैं, उनकी एकवाक्यता भगवान् व्यासने 'न विषदश्रुतेः। अस्ति तु गौण्यसम्भवात्।' (अ० २।३।१-३) इत्यादि सूत्रोंमें उक्त प्रकारसे की है। सृष्टि-क्रममें वर्णित जो पचीस तत्त्व कहे गये हैं, उन सबमें परस्पर कार्य-कारणभाव श्रुतियोंमें दिखाया है। वहाँ सबका मूल कारण परमात्माका साक्षात्कार ही है। कार्य-कारणभाव दिखानेका यही अभिप्राय है। तभी तो तत्त्वोंमें परस्पर भाव भी श्रुतियोंद्वारा वर्णित है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।

तालपर्य यह कि पहले इन्द्रियोंका ज्ञान होनेके बाद ही विषयोंका ज्ञान होता है। विषयोंके ज्ञानके बाद मनका,

उसके बाद बुद्धिका—इस प्रकार पूर्व-पूर्वके बाद उत्तरोत्तर-का ज्ञान करते-करते सबसे परे परमात्म-तत्त्वका साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार बाह्य-वस्तुके ज्ञान होनेके बाद ही उसके अन्तःस्थ अर्थात् भीतरी वस्तुका ज्ञान होना सम्भव है। इसी प्रकार परमात्माका सर्वान्तःस्थ और सर्वान्तर्यामी होना भगवती श्रुति बताती है। इस प्रकार स्थूल पदार्थके ज्ञानके बाद ही सूक्ष्म पदार्थका ज्ञान होना सम्भव है। सूक्ष्मके ज्ञानके बाद ही उसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतरका ज्ञान या साक्षात्कार हो सकता है।

समस्त कारणोंका भी कारण सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतर सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही है और अत्यन्त सूक्ष्म—कुशाग्र बुद्धियोंको श्रुतिकी सहायतासे आत्माका साक्षात्कार सम्भव है। परमात्माका यथार्थ-स्वरूप बतानेमें श्रुति भी अपने-को असमर्थ पाती है और इसीलिये बार-बार कहती है—'नेति, नेति' 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' इतना ही नहीं, 'बृहदारण्यक' में लिखा है—'वेदा अवेदाः' अर्थात् समस्त पदार्थोंका बोध करानेवाले वेद भी परमात्माका सम्यग् बोध करानेमें असमर्थ रहते हैं। फिर भी, दुर्बोध होने-पर भी श्रुति अपना प्रयत्न नहीं छोड़ती। इतना ही नहीं, 'अन्नं ब्रह्म' कहकर अत्यन्त मन्दबुद्धियोंकी भी दृढ़ भावनाको सुदृढ़ कराती है। किसी भी वस्तुमें सर्वोत्तम ब्रह्मकी भावना हो, यही श्रुतिका मुख्य उद्देश्य है। माताकी तरह 'अन्नं ब्रह्म' कहकर वह हमें ब्रह्म-जिज्ञासाकी ओर प्रेरित करती है। सहज स्नेहमयी माँकी भाँति श्रुति भी कभी वञ्चना नहीं करती, प्रत्युत यथाधिकार अन्नसे प्राण, प्राणसे मन, मनसे बुद्धिकी ओर हमें प्रेरित करती है। बादमें पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जानेपर—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' का उद्देश देती है।

अधिकार-भेदसे अनेक मार्ग ब्रह्म-साक्षात्कारके लिये कहे गये हैं। वे श्रुतियाँ प्रणवादि मन्त्रोंका जप और प्रतिमादि-पूजनसे परम लक्ष्य ब्रह्म-साक्षात्कारकी ओर हमें केवल प्रेरित ही नहीं करतीं, प्रत्युत उसमें प्रतिष्ठित करानेके लिये उपाय भी बताती हैं। वे कहती हैं कि परमात्म-सदनके प्रवेश-द्वारपर ही द्वार-पालोंकी तरह प्रतिबन्धकरूमें प्रिय और इन्द्रियाँ विद्यमान रहती हैं। इनको वशमें करना नितान्त आवश्यक है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति मुक्तेन मनसा सदा।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्चा इव सारथेः ॥

इसके बाद श्रुति कहती है—मन और बुद्धि जो अधिकारी वर्ग हैं, उन्हें ब्रह्मरूपमें ही देखो—

यथा मनो ब्रह्म व्यजानात् ।

प्राणो ब्रह्म व्यजानात् ।

इसके बाद 'ब्रह्मरा ब्रह्मनिष्ठाः' अनन्यभावसे ब्रह्ममें निष्ठा करो। इस प्रकार श्रुत्युद्देशके अनुष्ठानसे जब पूर्णता

आ जाती है, तभी परमात्मा उसे आत्मीय समझकर देखता है। यही परमात्माकी स्वीकृति है—

यमेवैव ब्रूयते तेन लभ्यः, तस्यैव आत्मा विब्रूयते तनूं स्वाम् ।

आत्मसाक्षात्कार ही मोक्षका कारण या स्वरूप है। इसमें साधनान्तरकी आवश्यकता नहीं रह जाती। साधनान्तरकी अपेक्षाका निषेध भी स्वयं श्रुति करती है।

‘तमेवं विद्वानमृत इह भवति’ नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाया’

अर्थात् उस परमात्माको जानकर ही मनुष्य अमृत अर्थात् मुक्त हो जाता है। मुक्तिके लिये दूरा कोई मार्ग नहीं है। बल्कि यह सम्यग् ज्ञान ही मुक्ति है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

सम्पश्यन् परमं ब्रह्म याति नान्येन हेतुना ॥

जो मनुष्य सब भूतोंमें अपनेको और अपनेमें सब भूतोंको देखता है, वह परब्रह्मको प्राप्त करता है, इसमें सन्देह नहीं है।

जिन ढूँढ़ा तिन पाइया

(लेखक—श्रीअजयकुमारजी)

इस सृष्टिमें केवल दो ही वस्तुओंका आभास होता है, प्रथम तो चेतन-जगत्, दूसरे जड-जगत्। इसीको विद्वानोंने 'सृष्टि' कहा है। चेतन-जगत्में मानवका स्थान सर्वोच्च है। उसीको यह सौभाग्य प्राप्त है कि वह सृष्टिके रचयितासे सम्बन्धित प्रश्नोंपर मनन करे, उन्हें व्यावहारिकरूप प्रदान करे और जीवनको सफल बनाये। विद्वानोंने इच्छातुल्य सृष्टिके रचयिताके प्रति विभिन्न भाव अभिव्यक्त करते हुए समाजके सम्मुख प्रस्तुत किये। किसीने भवजागर माना तो किसीने मृत्यु-लोक मानकर इसकी चर्चा की। इत्यादि।

मैं संसारको कला-प्रदर्शनीका स्वरूप देता हूँ। यह कला-प्रदर्शनी जड-चित्रों तथा चेतन-चित्रोंसे सुशोभित है। इस नानारूपात्मक जगत्में एक-से-एक सुन्दर चित्र हैं, जिनकी तुलना एक दूसरेसे नहीं की जा सकती। इस प्रदर्शनीका दर्शक मानव है जो कि भिन्न-भिन्न भावोंसे देखता है और भिन्न-भिन्न भावनाओंकी धारणा अग्रे शब्दोंमें अभिव्यक्त करना प्रारम्भ कर देता है। कुछ दर्शक तो प्रदर्शनीके चित्रोंकी तो प्रशंसा करते ही हैं; किंतु कलाकारको जाननेकी अत्यधिक इच्छा प्रकट करते हैं। ऐसे पुरुष बिरले ही होते हैं।

शेष मानव-दर्शक तो कलाकी स्तुति करके चित्र कय करनेकी भावना प्रकट करते हैं और उस भावनामें खो जाते हैं तथा क्रय करनेका पूर्ण प्रयास करते हैं। उन्हें इससे कोई प्रयोजन नहीं कि कलाकार कौन है? एक पटपर यह लिखा होता है कि 'ये चित्र किसी भी मूल्यपर विक्रयके लिये नहीं हैं।' उसपर बिना ध्यान दिये कलह करना प्रारम्भ कर देते हैं। उन्हें न मिलनेसे क्रोध आता है; परंतु यह इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती है।

उपर्युक्त बातोंने मानव-दर्शकोंको दो वर्गोंमें विभक्त कर दिया। अब ऐसी अवस्थामें यह प्रश्न विचारणीय है। प्रथम दर्शकोंमेंसे एक दर्शकने अपने विचार प्रदर्शनीके प्रति अन्य दर्शकोंके सम्मुख निम्न रूपसे अभिव्यक्त किये—

तुलसी या संसारमें मौंति-मौंति के लोग।

सब सों हिल-मिल चाहिये, नदी नाव संजोग ॥

उपर्युक्त भाव दूसरे दर्शकोंको श्रवणमें सुन्दर तो लगते हैं, किंतु चित्र कय करनेकी भावना बुद्धिपर इतने प्रबल रूपसे छाया हुई होती है कि वे अपनेको सँभाल नहीं पाते और पुरानी समस्यामें पुनः व्यस्त हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रदर्शनी देखनेका समय समाप्त हो जाता है और

वे (दर्शक) अपमानित करके प्रदर्शनीसे बाहर निकाल दिये जाते हैं। दर्शक चिल्लाते रह गये। इसी वर्गके दर्शकने अपने शेष साथियोंको चलते समय एक शिक्षा दी जो कि निम्न रूपसे है—

कहो रहीम केतिक रही, केतिक गई विहाय ।

माया ममता मोह पड़, अंत चले पछताय ॥

इस अनुभूतिका प्रभाव दर्शकोंके मनपर कुछ समयके लिये पड़ा तो अवश्य, पर अल्प समयमें ही यह भावना कपूरकी तरह उड़ गयी और कलहात्मक वार्ता पुनः प्रारम्भ हो गयी।

हमें तो यहाँपर प्रथम वर्गके दर्शकोंकी चर्चा करनी है, न कि दूसरे वर्गवालोंकी।

ऐसे दर्शक प्रदर्शनीमें निश्चित समयके लिये आते तो अवश्य हैं और कलाकृतियोंकी गद्गद कण्ठसे प्रशंसा भी करते हैं; किंतु वे अपना अमूल्य समय क्रय-विक्रयमें व्यय न करके प्रदर्शनीके देखनेके समयके लक्ष्यको सम्मुख रखकर चित्रकारकी खोजके लिये कटिबद्ध होकर, व्याकुलताके साथ उसे ढूँढ़ना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे वे उस महान् कलाकार (ईश्वर या ब्रह्म) के साथ अपनी एकता स्थापित करके कला-प्रदर्शनीका रहस्य जानना चाहते हैं। वे कला-कृतियोंके मोहमें नहीं फँस जाते। वे इस सिद्धान्तके

विश्वासी हैं कि प्रयास करना हमारा जीवनपर्यन्त लक्ष्य है। वे बार-बार सच्ची लगनके साथ प्रदर्शनीके चक्कर लगाते रहते हैं। आवागमनके चक्रसे संतुष्ट न होकर एक जिज्ञासुके रूपमें वे ईश्वर, जगत् और जीवके रहस्यको जानना चाहते हैं और इस सीमातक ढूँढ़ते हैं कि उनके मुखारविन्दसे अनायास ही निम्न शब्द निकल पड़ते हैं—

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ वासी ॥
सीम राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

और प्रयास जारी रखते हैं। ज्यों-ज्यों कलाकारके पास आनेका समय समीप आता जाता है, वे धैर्य और हर्षके साथ समयकी प्रतीक्षा करते हैं और ब्रह्मरूपी कलाकारके पास जानेके लिये सदैव तत्पर रहते हैं और वह शुभ घड़ी आ जाती है जब उनका (ब्रह्मरूपी) कलाकारसे योग हो जाता है।

इन सब बातोंका यह तात्पर्य निकल कि कला-प्रदर्शनीमें चित्र क्रय करनेमें समय व्यतीत न करो, नहीं तो पश्चात्तापके अतिरिक्त कुछ हाथ न आयेगा और तुम प्रदर्शनीका समय समान होनेके बाद सेवकों (मृत्यु) से अपमानित करके बाहर निकाल दिये जाओगे। यदि एकता स्थापित हो गयी तो फिर सभी पदार्थ मिल जायेंगे।

कृष्ण-कल्पतरु सेव

तनहि राख सत्संग में, मनहि प्रेम रस भेव ।
सुख चाहत हरिवंस हित कृष्ण कल्पतरु सेव ॥
निकसि कुंज ठाढ़े भय, भुजा परस्पर अंस ।
राधावल्लभ मुख कमल निरखत हित हरिवंस ॥
सब सौ हित, निहकाम मन, बृंदावन विश्राम ।
राधावल्लभ लाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम ॥
रसना कटौ जु अन रटौ, निरखि अन फुटौ नैन ।
स्रवन फुटौ जो अन सुनौ, विनु राधा जसु वैन ॥

—श्रीहितहरिवंश महाप्रभु

मधुर

श्याम सरोज वदन सुचि सुंदर
 नयन-जुगल चंचल सुविसाल ।
 अकुटि कुटिल आकर्षति मुनि-मन
 मृगमद-कुंकुम तिलक सुभाल ॥
 झूमि रहीं अलकावलि कारी
 धुँधरारी घन रुचिर विचित्र ।
 कानन कुंडल ज्योति छिटक रहि
 कलित कपोलनि रचना चित्र ॥
 सीस मुकुट मनि-मोर-सिखाजुत
 लसत मंजु बर बिनु उपमान ।
 अरुन अधर विकसित दसनावलि
 छाई मंद मधुर मुसुकान ॥
 उर विसाल सोभित मुक्ता-मनि-
 सुरभित कुसुम-तुलसिका हार ।
 कटि किंकिनि रव सुमधुर बाजत
 झनकत पग नूपुर झनकार ॥
 रूप अनूप अपार अलौकिक
 धरे चल रहे मारग श्याम ।
 राधा निरखि रही अपलक डग
 बंठि झरोखे वदन ललाम ॥
 नेत्र अतृप्त निरखि सुंदरता
 आनंद सागर उर न समात ।
 बही डगन धारा अबाध गति
 झलित कर सुचि मुख-जलजात ॥

- श्यामवर्णका जिनका पवित्र सुन्दर वदन-कमल है,
 जिनके दोनों नेत्र सुन्दर विशाल और चञ्चल हैं, जिनकी
 टेढ़ी भौंहें मुनियोंके मनको खींच रही हैं, जिनके
 सुन्दर भालपर कस्तूरी-केसरका तिलक सुशोभित हो
 रहा है । जिनके सिरपर परम सुन्दर विचित्र काली घनी
 धुँधराली अलकावली झूल रही है, चित्रोंकी रचनासे
 युक्त कलित कपोलोंपर जिनके कानोंके कुण्डलोंकी ज्योति
 छिटक रही है, जिनके सिरपर मणियोंका मयूरपिच्छ-
 संयुक्त ऐसा परम मनोहर श्रेष्ठ मुकुट सुशोभित है कि
 जिसकी उपमाके योग्य कहीं कोई नहीं है । जिनके

लाल-लाल अधरोंपर मन्द मधुर मुसुकान छापी है जिसमें
 उनकी दन्तपंक्ति विकसित हो रही है । जिनके विशाल
 वक्षःस्थलपर मुक्ता, मणि तथा सुगन्धित पुष्पोंके और
 तुलसीके हार सुशोभित हैं । जिनके कटिप्रदेशमें
 करधनीके धुँवरुओंकी सुमधुर ध्वनि बज रही है और
 जिनके पैरोंमें नूपुरोंकी झंकार झनक रही है । ऐसे
 अनुपम अपार अलौकिक दिव्य रूपको धारण किये
 श्यामसुन्दर मार्गसे जा रहे हैं । श्रीराधाजी झरोखेमें
 बैठी—उनके परम सुन्दर वदनको अपलक नेत्रोंसे
 निरख रही हैं । श्यामसुन्दरके सौन्दर्यको निरखकर
 राधाके नेत्र तृप्त नहीं हो रहे हैं, हृदयमें आनन्दका सागर
 उमड़ पड़ा है, वह समा नहीं रहा है और उस
 समुद्रकी पवित्र रसधारा (नेत्रोंके द्वारा) अत्यन्त अबाध
 गतिसे पवित्र मुखकमलको प्लावित करके बहने लगी है ।

देखि राधिका मुखससि सुखमय
 हरवि भए मोहन रसमग्न ।
 सहसा एक नयो भय उपज्यौ
 तातें भयो श्याम सुख भग्न ॥
 देखि मोहि प्रियतमा राधिका
 कितनी सुखी भई एहि काल ।
 आँखिन ओझल होत अदरसन तें
 कैसी होगी बेहाल ॥
 सहि पावैगी कैसे राधा
 हृदय विदारक सो उर-सूल ।
 हाय पुकार रो उठे मोहन
 सहसा गये सकल सुख भूल ॥

श्रीराधाके मुखचन्द्रको सुखमय देखकर श्रीश्याम-
 सुन्दर मोहन हर्षित होकर प्रेम-रसमें निमग्न हो गये ।
 पर अचानक उनके हृदयमें एक नया भय उत्पन्न हो
 आया, जिसके कारण श्यामसुन्दरकी वह सुखकी स्थिति

टूट गयी। वे सोचने लगे—‘प्रियतमा राधिका इस समय मुझे देखकर कितनी सुखी हो रही है, पर मैं जब चला जाऊँगा, तब आँखोंसे ओझल होते ही मुझे न देखकर इसकी कैसी दुर्दशा होगी। मेरे अदर्शनसे इसके हृदयमें जो हृदयको विदीर्ण कर देनेवाला शूल उत्पन्न होगा, उसे यह राधा कैसे सहन कर सकेगी ?’ इतना सोचते ही श्यामसुन्दर ‘हाय ! हाय !’ पुकार सहसा रोने लगे। वे अपना सारा सुख भूल गये।

देखि विषाद भरगौ प्रियतम-मुख
काँपि उठ्यौ राधा तन धीर।
उठी हृदय तें हूक बिधि गयौ
मानों विषम विषयुझ्यौ तीर ॥
निज सुख हेतु श्याम सनमुख मैं
आई क्यों अपराधिनि आज।
जो सुख, श्याम-दुःखझौ कारण
ता पर परी क्यों नहीं गाज ॥
नहीं आवती जो सन्मुख मैं
होती नहि आनंद विभोर।
मेरी भावी दुःख-संका तें
तो न दुखी होते चितचोर ॥
मेरे दुःख दुखी वे प्रियतम
मेरे सुख तें सुखी अमान।

तिनकुँ नित्य दुखी मैं करती
निज-सुख इच्छामें बेभान ॥
कबहुँ न मैं देखूँ अब तिनकुँ,
देख जु पाऊँ रहूँ सचेत।
सुख-लहरी आवै न बदनपर
प्रगट न होवै सुख संकेत ॥

इस प्रकार प्रियतम श्यामसुन्दरका मुख विषादसे भरा देखकर धैर्यवती राधाका शरीर काँप उठा। उनके हृदयमें हूक उठ खड़ी हुई, मानो भयानक विषका बुझा तीर हृदयमें बिंध गया हो। वे सोचने लगीं—‘मैं अपने सुखके लिये आज क्यों श्यामसुन्दरके सामने आयी ? मैं अपराधिनी हूँ। मेरा जो सुख, प्रियतम श्यामसुन्दरके दुःखका कारण हो, उसपर वज्रपात क्यों नहीं हो गया ? मैं आज यदि सन्मुख न आयी होती और श्यामसुन्दरको देखकर आनन्दमें विभोर न हुई होती तो मेरे भावी दुःखकी आशङ्कासे वे मेरे चितचोर दुखी नहीं होते। वे मेरे प्रियतम मेरे दुःखसे दुखी हैं और मेरे सुखसे ही वे अपार सुखी होते हैं। पर मैं अपने सुखकी इच्छासे अचेत होकर सदा उन्हें दुखी ही करती रहती हूँ। किंतु अब तो मैं यही चाहती हूँ कि मैं उनको कभी न देखूँ, और यदि कभी देख भी पाऊँ तो इतनी सावधान रहूँ कि न तो मेरे मुखपर सुखकी कोई लहर आवे, न संकेतसे ही कहीं सुख दिखायी दे।

मनको उपदेश

करि हरि सौ सनेह मन । सँचौ ।
निपट कपट की छाँड़ि अटपटी, इंद्रिय बस राखहि किन पाँचौ ॥
सुमिरन कथा सदा सुखदायक, विषधर विषय विषम विष पाँचौ ।
सूरदास प्रभु हित कै सुमिरौ आनंद करि कै नाचौ ॥

—श्रीसूरदासजी



रासलीला

(लेखक—श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्टाना 'प्रेम')

पढ़ता था—शायद दसवें दर्जेमें। तब कमी-कमी स्टेशन किसीको लाने, किसीको पहुँचाने जाता। स्टेशनपर चहल-पहल मुझे कुछ अच्छी लगती थी। इंजन धीरे-धीरे अनेक डिब्बोंको बाँधे जब प्लेटफार्मपर आता, तो लगता कोई सम्राट् बड़ी शानसे आ रहा है। कितने लोग उसकी प्रतीक्षामें रहते हैं। वह आग तो निकालता था, पर कितना शान्त था। कितने बोझ उसपरसे उतरते और कितने फिर लद जाते—वह उफ् भी न करता। जब चलता तो गर्वसे सिर उठाकर सीटी बजाता हुआ। सेवा जो कर रहा था।

यह स्टेशन भी क्या जगह है? यहाँ मुसाफिर आते-जाते। वही मुसाफिर तो रोज न होते, पर आना-जाना—भीड़ वैसी ही रोज रहती। कोई सामानके साथ, कोई बेसामान; कोई रोता-सा, कोई हँसता-सा; हर रुरत देखनेमें आती। कुछ खोये-खोये-से इधर-उधर हँदते फिरते; कुछ अपना बोझ स्वयं ढो रहे थे, कुछ औरोंसे ढुआ रहे थे। सबमें रवानगी थी। स्थिर था बस, वह मूक प्लेटफार्म, जिसको अनेकों अपने पैरोंसे रूँध रहे थे। संत था वह।

जब रेल चली जाती—हलचल कम हो जाती तो मैं वहाँ टेंगे बड़े-बड़े चित्रोंको ध्यानसे देखता। काशी, नासिक, पुरी, श्रीवृन्दावन इत्यादि सभी थे वहाँ। मैं एक मानसिक चित्र, जो इन चित्रोंसे कहीं रंगीन होता, तैयार कर लेता। तस्वीरें जैसे सजीव हो उठतीं—जैसे मैं उनके घाटों-गलियोंमें घूमने लगता, खो ही जाता समझो। बम्बई, दार्जिलिंग, नैनीताल इत्यादि चित्र अच्छे लगते, पर काशी, नासिकमें कुछ विशेषता थी और वृन्दावन? वृन्दावन तो आत्माको बाँध ही लेता था।

कितने ही दिनोंसे वृन्दावन जानेकी इच्छा थी, पर मेरे पास मैले कपड़े* बहुत थे। सोचता धोकर साफ करके तब चलूँगा। अग्ने-आप थोड़े-थोड़े धोता था। थोड़े ही धो पाता—सब उजले कर ही न पाता, शहरकी दौड़धूपमें साफ फिर मैले हो जाते। न जाने कैसा संग था।

फिर कोई धोनेवाला भी तो ठीक नहीं मिला। सोचा, जो है वही लेकर चला चढ़ूँ, कोई वृन्दावनमें ही धो देगा।

चला फिर स्टेशनकी ओर—अबकी स्वयं ही जानेको। रेल आयी, भीड़ दौड़ पड़ी। बड़ा-सा गट्ठर मैले कपड़ोंका, छोटी-सी पोटली उजले कपड़ोंकी—कुछ उजले और कुछ मैले कपड़े पहने हुए एक डिब्बेमें घुसने लगा। सभीके पास गट्ठर थे—मैले, पर सभी कहते 'हाँ हाँ' इतना बड़ा गट्ठर लेकर यहाँ कहाँ धँसेगा। मैं सब अनसुनी करके आँख बचाकर सब लिये-दिये एक डिब्बेमें घुस ही तो पड़ा। यहाँ लोगोंने अपना सामान इधर-उधर ऊपर-नीचे रख दिया, पर मैं तो अपनी पोटली चिन्काये हाँ रहा—बैठा रहा। कमी मैं उनके सहारे, कमी वे मेरे सहारे। उन्हींका मेरा संग था, वे ही मेरे साथी थे। वे ही मेरे भूत, वर्तमान और भविष्य।

वृन्दावन आया-आया क्या, बस, पहुँच गया। वह वृन्दावन, जिसका वगैरे स्वप्न देखता था, जिसकी मनमोहक तस्वीरें खींचता था, और जहाँ-तहाँ शतरंजकी गोटीकी तरह राधा-कृष्णको बैठा देता, चलता, कमी किसीको हरा देता, कमी किसीको जिता देता। उसी वृन्दावनमें आ गया। यहाँ भी देखा, कुछ मैले ही कपड़े पहने थे—कुछ साफ, जिनमें इत्र लगा था, जो खुद सूँघते और दूसरोंको सुँघते। कितने ही रंगे कपड़े पहने थे—कितनोंके नीचे लंगोटें झलक रहे थे, अंदर बनियाइनकी जेबें बाहर झाँक रही थीं—किसी बोझसे नीचे झुकोर थी। कुछ एक वस्त्रधारी भी थे, वे बचकर चलते। और कुछ ऐसे भी थे जो स्वच्छ सफेद वस्त्र पहने थे, मस्तीसे झूमते चलते थे बेखबर। दिगम्बर भी थे, सभी थे हमारे वृन्दावनमें।

मैं भी बचता-बचाता टिकनेका स्थान ढूँढ़ने लगा, पर कोई पैर ही न धरने दे। सोचा था वृन्दावन तो लखनऊ नहीं, वह तो हमारे प्रसुका है—चाहे जहाँ पड़ रहूँगा, पर यहाँ तो कितनोंने ही छोटे-छोटे स्वच्छन्द राज्य स्थापित कर रखे थे। उनकी घेरी धरती उनकी थी—ऊपर

* कपड़े—कर्म।

१. संत। २. घमंडी। ३. प्रह्लादचर्यहीन। ४. द्रव्य एकत्रित रखना। ५. साधक। ६. सूफी। ७. देहाध्यास न रखनेवाले।

आसमानतक उन्हींका था, तो फिर मैं क्या करता। मैंने कहा—‘प्रभु ! जब रखना ही नहीं था तो क्यों बुलाया। तुम्हारी इतनी बड़ी दुनिया छोड़कर आया हूँ तुम्हारे पास, तुमने बुलाया जो तो फिर क्या ठहरने न दोगे ?’ जैसे कोई अज्ञातमें मुस्करा दिया—मुझे लगा कितासे बातें हो गयीं। वस चल पड़ा यमुनाका ओर। घाटपर खड़ा था—यमुना इठलाती मचलती हुई वह रही थी, लहरोंमें नृत्य था, बहावमें संगीत था। एक मस्तीका आलम था, जिसमें सभी बहता चले। बूबतों-उतराती चली जा रही थीं। मैं देखता ही रहा—देखते-ही-देखते चाँद भी पानीमें उतर आया। अनगिनत तारे कूद पड़े, खेल चल पड़ा—आँख-मिचौनी। मैं सोचने लगा क्या यही ‘रासलीला’ है ?

एक घाटपर अपनी छोटी-बड़ी उजड़ी-मैली पोटली रखकर बैठ गया, देखता रहा उस यमुनाको, जो वृन्दावनमें रंग उड़ेलती है, जिसको गोदमें गोपाल खेलते थे। घूम-घूमकर घाटके पास झाड़ियोंको देखता फिरा, उनके अंदर झाँकता, सुँघता, जैसे कोई पागल खोये हुए बाल-गोपालको, छिपे हुए नन्दलालको खोजता हो। थक गया, घाटपर आकर पोटलीका सहारा लेकर लेटा—वस, आँख लग गयी, सो गया।

कुछ हलचलकी आवाजें आने लगीं, कुछ पायल झनक उठे, कुछ खड़ाऊँ बोल पड़े। लोग लीला देखने जा रहे थे, मैं उठ बैठा। बड़ी गठरी तो यमुना-जलमें भीग गयी, उसे एक किनारे रखकर—छोटी पोटली दबाकर मैं चल पड़ा लीला देखने—कृष्ण-लीला।

एक बगीचा था, मध्यपर छोटे-से गोपाल, बड़ी-सी राधा, छोटी-बड़ी गोपियाँ और कुछ टेढ़े-सीधे गोपसखा थे। वंशी थी, मृदंग था, करतालें और झाँझें थीं। बजी वंशी, बोला मृदंग और फिर चला नृत्य। देखते ही बनता था। होथीका हृदय रंगसे भरा था। मालिनचोरी ! मकलनको गोलियोंसे दर्शक भरपूर हो गये—उगे-उगेसे सब रह गये। छके थे सब। क्या पिला रहे थे, क्या पी रहे थे—न जाने क्या था वह। हल्की-हल्की फुहार बरसकी थी—वह बरस थाड़े ही थी, मयकी झाड़ी लगी थी, सब नशेसे थे चूर, कोई इधर, कोई उधर, न वस्त्रकी खबर, न शरीरका ध्यान, न लाजका, न मर्यादाका ज्ञान। सब अपने स्वामीके आडिङ्गनमें जो थे।

लीला समाप्त हुई, सब तितर-वितर हो गये। मैं अपनी सफेद कपड़ोंकी पोटली दबाये घाटको लौटा, ऊपर बैठा—देखा यमुना मेरे बड़े गट्ठरसे खेल कर रही थी, हिला-डुलाकर किनारेपर ले आयी थी, देखते-देखते कपड़े वह चले, मैं हँस दिया, यमुनाकी हर लहर मुस्करा दी। मैंने कहा, ‘माँ ! यह भी ले जाओ’ फिर सफेद कपड़े भी इन्हींके हवाले कर दिये, वह उन्हें भी लेकर चल दी। पोटली खुल गयी, कपड़े बिखर गये, मैं उनको देखने लगा—वह कुर्त्ता, वह धोती, वह लँगोटी। फिर कहा ‘पालग’, मुँह मोड़ लिया। साढ़ियाँ चढ़कर ऊपरको चला, पर यह लँगोटी ! हाँ ! यह तो होनी ही चाहिये। फेंकूँ कि न फेंकूँ, हाथ लगाया उतारूँ, पर उतारा नहीं, कुछ निश्चय न कर सका। कोई बोला ‘यह मैली हो गया है, धो तो डाल’ वस यमुनामें धुव गया, कमर-भर पानीमें खड़ा हो गया। लँगोटा खोल मल-मलकर धोने लगा, एक लहर आयी जोरकी और साथ ही पैरमें काटा कट्टुएने^१—वस लड़खड़ा गया, लँगोटी हाथसे छूट गयी—लहरोंमें वह वह चली, हाथ बढ़ाया—मैं बढ़ा, पर वह तो वह ही गयी। मैंने कहा ‘माँ, यह भी ले लिया। अब कहाँ जाऊँ, कैसे, दिगम्बर ? माँ ! तुम्हारी गोदमें नंगा ठीक है, पर संसारके बीच क्या यह ठीक है ? जो तुम्हारी इच्छा।’ प्रणाम किया और बाहर निकलने लगा। एक लहरका थपेड़ा लगा। देखा, एक स्वच्छ कोरे वस्त्रका टुकड़ा मेरे कमरमें लगा। क्यों ? माँका प्रसाद था, लपेट लिया। कफन था किसीका। तो क्या माँ ! यहाँ कफन ही चाहिये ? वस, उस कफनको लपेटे ‘उनके’ वृन्दावनमें स्वच्छन्द विचरने लगा।

रातको थककर सो गया। शायद तीन बजेका समय होगा—कुछ बुँदरुकी आवाज आयी जैसे एक चहल-पहल मची हो। देखा, ऊपर आकाशमें कितने ही स्वरूप एक ही ओर जल्दी-जल्दी जा रहे हैं, नीचे पृथ्वीपर भी हलचल-सी मची थी। मैंने ऊपरवालोंसे पूछा—नेत्रोंसे ‘क्यों भाई कहाँ ?’ कोई बोला ही नहीं। कइयोंसे पूछा, पर कौन सुनता ? वे तो शीघ्रतामें थे। फिर एक संतने कहा ‘रासलीला’। बोले नहीं, होठ नहीं दिले, बता दिया मूक

१. भक्तिरूपी नदी।

२. कच्छप अवतार प्रमुक्ता।

३. इन्द्रिय-शानरहित।

वाणीसे । 'रासलीला' सुनकर मैं तड़प उठा, कूद-कूदकर ऊपर उठनेका प्रयास करने लगा, पर उठ ही न पाता, जैसे वह कफन ही बोझ बन जाता । किसीने ऊपरसे हँस दिया—फिर आवाज दी 'देह यहाँ नहीं आता प्यारे' । यह कफन उतार दे' । बस, मैंने कफन उड़ा दिया और एक दम ऊपर उठ चला, ज्योत्स्नाका जामा पहने, ज्योत्स्नाकी एक किरनके सहारे ।

ऊपर पहुँच गया, किसीने एक टीका लगा दिया जैसे दिव्य दृष्टि खोल दी । आस्मानमें कहीं मेला लग रहा था । श्रीकृष्ण थे, राधा थीं, गोपियाँ थीं, कुछ सखा थे । और दर्शक—साधु-संत, गृहस्थ—सभी तो थे, जो पहुँच सकते थे । रोशनी थी, अन्धेरा था । छिटकी-छिटकी चाँदनी थी, फूलोंकी सुगन्ध थी, रंग थे, बहती धार थी नदी-सी । दर्शक सब बैठ गये । न जाने किसपर गोपियोंके पैर मचल पड़े, वंशीपर श्रीकृष्ण खड़े थे न जाने काहेपर । मृदंगपर थाप पड़ी, मजीरे बोल उठे, स्वर छिड़ गये । श्रीकृष्ण मुस्कराये, राधाको छेड़ा, बोले—'राधे ! तुम एक नृत्य करो, जैसा हम कहें तो हम जानें ।' राधाके तेवर बदल गये, बोली 'कहो' ।

श्रीकृष्ण बोले—

चन्द्रवदनी ! नाचो तो देखि ।
ना होव मूषणेर ध्वनि ना नहिबे चीर ।
दुतगति चरणे ना बाजिबे मञ्जीर ॥
बिषम संकटे ताले बाजाइव बाँशी ।
धनु अँकुर माझे नाचो बुझिब प्रेयसी ॥
हारिले काङ्गिमे लबो बेशर काँचली ।
जितिले तोमारे दिब मोहन मुरली ॥

'चन्द्रमुखी ! मैं देखूँ, तुम नाचो । पर शर्त यह है, नाचते समय न तो गहनोकी आवाज हो, न कपड़ा हिले, चरणोंकी तेज चालमें भी मञ्जीर न बजें, ताल भी न गड़बड़ हो, मैं तालपर मुरली बजाऊँगा, तुम यदि हार जाओगी तो मैं तुम्हारी नक़बेसर और कंचुकी छीन लूँगा, जीतोगी तो तुम्हें मोहन मुरली दे दूँगा ।'

श्रीराधे विजलीकी तरह चमक उठी, वह नृत्य क्या था—बस, दामिनी दमक रही थी । जैसे सर्प एक ही स्थानपर दुतगतिते चल रहा हो, जैसे एक बबूला हवामें

ऊपर वह चला हो—जैसे प्राण महाप्राणसे मिलने उठ पड़े हों । श्यामसुन्दरने जैसे बताया था, वैसे ही राधा नाच रही थी । श्यामसुन्दर चारों ओर देखते हुए अपनेको छिपा रहे थे । सबने पुकारकर कहा—'राधा जीत गयी । नागर हार गये ।' सारा गोपीसमूह हँस पड़ा । उल्लाससे, गर्वसे, हर्षसे देवताओंने ताली बजायी, 'जै राधे-जै राधे' गूँज उठा ।

जेमनि बोले श्याम नागर तेमनि नाचे रहि ।
मुरली लुकाय श्याम चारि दिके चाई ॥
सबाई बोले राई जय नागर हारिले ।
दुःखिनी कहिछे गोपीमंडल हाँसाले ॥

श्रीकृष्ण शमाये, पर मुस्कराये, हारे; पर जीते । राधाका नृत्य, राधाकी चाल, राधाकी मुस्कान, छेड़छाड़—ये ही तो उनकी श्वास हैं । इन्हींमें तो उनके प्राण हैं । इसीपर तो वे न्योछावर हैं ।

उमककर राधा श्रीकृष्णके पास आ गयीं । बोली,—
'श्रीकृष्ण ! अब तुम नाचो, जैसा मैं कहूँ, और हारे तो मैं वंशी छीन लूँगी । 'कैसे ? बोलो' ।

राधाने कहा—सुनो—

श्याम तोमाके नाचते हबे ।
ना नाहिबे गण्ड मुण्ड नुपुरे कड़ाई ।
ना नाहिबे बनमाला बूझिब बड़ाई ॥
ना नाहिबे क्षुद्र घण्टि श्रवणेर कुण्डल ।
ना नाहिबे नासार मोती नयनेर पल ॥
ललित बाजाय बीणा विशाखा मृदंग ।
चित्रा बाजाय सप्तस्वरा राइ देखे रंग ॥
तुङ्गविद्या कपिलास तुम्बुरा रंगदेवी ।
इन्दुरेखा बाजाय पिणाक मंजिरा सुदेवी ॥
उद्भट ताले यदि हारो बनमाली ।
चूड़ा बाँशी केड़े लबो दिब करताली ॥
यदि जिते राइ दिबो आमरा होबो दासी ।
नईले कारागारे घोर दुःखिनी शुनि हासी ॥

श्यामसुन्दर ! तुम्हें नाचना पड़ेगा । शर्त यह होगी कि नाचते समय गाल, सिर नहीं हिलेंगे । नूपुर नहीं हिलेंगे । गलेकी बनमाला नहीं हिलेगी । तभी तुम्हारी बड़ाई समझी जायगी । क्षुद्र घण्टिकाएँ तथा कानोंके कुण्डल भी नहीं हिलेंगे । नासिकाका मोती और आँखोंकी पलकें भी नहीं

हिलेंगी। ललित वीणा बजायेंगी, विशाखा मृदङ्ग, चित्रा ससखरा, तुङ्गविद्या कपिलास, रंगदेवी तंबूरा, इन्दुरेखा पिनाक और सुदेवी मंजीरा बजायेंगी। विचित्र तालोंमें कहीं मी है वनमाली। तुम यदि हार गये तो हम ताली बजाकर तुम्हारे मस्तकका चूड़ा और हाथोंसे मुरली छीन लेंगी। यदि कदाचित् तुम जीत गये तो हम सब तुम्हारी दासी हो जायेंगी। नहीं तो, तुम्हें हमारे घोर कारागारमें रहना पड़ेगा।'

बड़ी उमंगसे, बड़ी तत्परतासे श्रीकृष्णने फेंटा कसा, बंशी खोसी। सबकी ओर देख, राधासे आँख मिलायी, मुस्कराये, जगह बनायी जैसे नृत्य करनेकी उतावली हो, पर। पर वे तो एकदम भाग खड़े हुए। सबने ताली पीट दी, सब ठहाका मारकर हँस पड़े।

फिर राधा भागी पीछे, और पकड़ ही तो लायी हाथमें हाथ लेकर, फिर पैर मचल पड़े, घुँघरू बोल पड़े, हवामें मादकता बही, देखनेवाले होश खो बैठे, ऐसी थी यह रासलीला। आकाश गूँज उठा, हृदय काँप उठे, शरीर सिहर पड़े, आँखोंमें वर्षा ऋतु उमड़ पड़ी। सब ही तार बज उठे एक स्वरसे। बस, एक कम्पन थी, बस, एक ध्वनि थी—ऐसी थी वह 'रासलीला'।

जब सोयी शक्ति जगा रहा था—आसनपर था—तो सुषुम्ना नाड़ीसे सूर्य एवं चन्द्र नाड़ी कुछ इस प्रकार गुँथी थी जैसे धनुषमें दो तार बँधे हों। मूलाधारमें एक नोक,

भ्रूमध्यमें दूसरी नोक, द्रुवपर धनुषका झुकाव था, इसी धनुषाकारमें शक्ति चलती अनेकों चालोंसे, अनेकों ज्योतिसे, अनेकों शब्दोंसे, अनेकों स्वरोंसे। कितना रस था उसमें, कितनी मादकता, कितनी दिव्यता? क्या यह 'रासलीला' है? हमारे अंदर ही! क्या अनहद ही वह स्वर नहीं, जो बिना कोई अङ्ग हिले बोले! क्या इस ओंकार ध्वनिमें कोई स्वरूप रहता है? नहीं! तभी तो श्रीकृष्ण भाग खड़े हुए। पर यह अवस्था कितनी देर? शक्ति सदा शिवसे मिलती है तो क्या वह सुख—आनन्द आनन्द नहीं? क्या अमृतकी वर्षा नहीं है? तो क्या यही 'रासलीला' है हमारे अंदर?

इसी रासलीलाका वर्णन ही तो है—

पेसा देस दिवाना रे लोगो जाय सो माता होय ।
बिन मदिरा मतवारे झूमे जनम-मरन दुख होय ॥
बिना सीप अनमोलक मोती बिन दामिनि दमकाही ।
बिन ऋतु फूले फूल रहत है अमृत रस फल पाई ॥
अनहद सबद मँवर बिच गुँजरै संख पखावज वाजे ।
ताल घंट मुखी घनघोरा मेरि दमामै गाजे ॥
रम्मा नृत्य करे बिनु पगसँ बिन पायल ठनकारै ।
सिद्धि गर्जना अति ही मारी घुँघरू गति झनकारै ॥

रहस्यकी बात है रासलीला, विरला ही कोई पहचाने—
जिसे 'वह' पहचनवा दे, अपने आश्रयमें ले ले, अपना रहस्य खोल दे। राधे कृष्ण! जय राधे कृष्ण!

ब्रजवासकी विधि

पेसै हौं बसिए ब्रज बीथिन ।
साधुन के पनवारे चुनि चुनि, उदर पोषिये सीथिन ॥
घूरन में के वीन चिनगटा, रच्छा कीजै सीतन ।
कुंज कुंज प्रति लोटि लगै उड़ि, रज ब्रजकी अंगीतन ॥
नितप्रति दरस स्याम स्यामा कौ, नित जमुना जल पीतन ।
पेसेहि 'न्यास' होत तन पावन, पेसेहि मिलत अतीतन ॥

—संत श्रीन्यासदासजी

मनसुख-विरह-शतक

(रचयिता—श्रीजसवंतजी रघुवंशी)

[गताङ्क पृष्ठ ८५५ से आगे]

तृतीय तरंग

(३५)

सखा ! उस दिनसे जाता नहीं,
कभी मैं नन्दगाँवके पास ।
डरा रहता, दुख जाये नहीं—
किसी विरहीकी मुझसे साँस ॥
अभीतक बढ़ा रहे हैं दर्द,
यशोदा मैयाके उद्गार ।
जलाती है प्राणोंको सखे !
विरहमें सुलग बसन्त बहार ॥
लता-गुल्मोंके भीतर पड़ा
दग्ध निर्जन यमुनाके तीर ।
सुनाता रहता हूँ, हा सखे !
स्वयं अपनेको अपनी पीर ॥

बढ़ रही द्विगुणित गतिसे कसक,
दिनोंदिन प्राणोंमें उन्माद ।
बना डालेगा पागल मुझे—
किसी दिन तेरा अमिट विषाद ॥
बुलाता है वह सुना गुल्म,
न आओगे क्या अब इस ओर ?
अरे ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
सलोने राधाके चितचोर ॥

(३६)

कृष्ण ! इस सूनेपनमें यहाँ,
चला आया था ले यह भ्रान्ति ।
मिलेगी सम्भवतः अब मुझे—
अकेलेपनमें ही कुछ शान्ति ॥
किन्तु भैया ! आकर इस ठौर—
हो गया है मन और अशान्त ।

करेगा कैसे शीतल मुझे
स्वयं जब आकुल है एकान्त ॥
भर रहा है मुझसे भी अधिक,
मित्र ! यह भारी भारी साँस ।
तड़फता है मानों उर बीच,
चुभ गयी हो अति गहरी काँस ॥
हो गया हूँ अतिशय उद्भ्रान्त,
निरख पीड़ा इसकी गम्भीर ।
व्यथामें घुलकर कबसे हाय !
हो गया है नितान्त अशरीर ॥
न कर चाहे मेरा दुख दूर,
किन्तु कर इधर कृपाकी कोर ।
अरे ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
सलोने राधाके चितचोर ॥

(३७)

बिखरे था जो तेरे साथ,
इयाम सौरभका कोष अनन्त ।
पगा प्रेमिल पीड़ामें, पीत
पड़ गया, पागल मधुर बसन्त ॥
छेड़ता है जब व्याकुल पवन,
प्रकम्पित होता है सब गात ।
चूमते हैं जब प्रेमी मधुप,
सहमता जैसे कोमल पात ॥
बढ़ाते हैं पीड़ा सौ गुनी,
प्रणयके गीत मिलनके राग ।
गये सब झुलस रंगीले फूल,
लगी तेरे बिछोहकी आग ॥
अरे मैं अच्छा आया इधर,
बचाने प्राण, शान्तिके हेत ।
यहाँ तो जला रहे हैं मुझे,
और ये पीले पीले खेत ॥

न मेरी ओर सही, पर हाय !
 निहारो इस दुखियाकी ओर ।
 अरे ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
 सलोने राधाके चितचोर ॥

(३८)

सिसकते सी-सी करते हुए,
 शरदके सिकुड़े ठिठुरे प्राण ।
 खोजते फिरते चारों ओर,
 न मिलता किन्तु कहीं भी त्राण ॥
 तुम्हारी देखा करता राह,
 शरद पूनमका व्याकुल चन्द ।
 तड़फते हैं अधरोंपर अभी,
 तुम्हारे महारासके छन्द ॥
 हो गया शीतल सारा गात,
 जम गयी हैं स्वाँसें सुकुमार ।
 पड़ा है प्राणोंपर इस तरह,
 शरदके, भैया ! विरह-तुषार ॥
 तुम्हारे नृत्य-गान-संगीत,
 सभीको बना कभी जो श्रेष्ठ ।
 हाय ! अब उसी शरदकी आज,
 हो रहीं मुद्राएँ निश्चेष्ट ॥
 न कर मेरी चिन्ता, पर निहुर !
 थाम इसके दमनका छोर ।
 अरे ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
 सलोने राधाके चितचोर ॥

(३९)

खरिल मुरलीसे निकले मधुर,
 मल्हारोंके रसभीने बोल ।
 याद कर कर सावनके प्राण,
 रहे मनमें पीड़ाएँ घोल ॥
 लगी दगसे आँसूकी झड़ी,
 जगत कहता आयी वरसात ।
 बिरी साँसोंमें काली घटा,
 गहन जैसे अधियारी रात ॥

छुटाती है धीरज, बेपीर !
 पीरकी विजली उरमें चमक ।
 कि जैसे छहर गयी हो हाय !
 तुम्हारे क्रीट-मुकटकी दमक ॥
 तड़फता मैं और,
 देख वर्षाकी भीषण झड़ी ।
 वहीं मिलती है उस क्षण हाय,
 विरहके ओरछोरकी कड़ी ॥
 किंतु फिर भी पहले जग प्राण,
 दुखी इस ऋतुको सुखमें बोर ।
 अरे ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
 सलोने राधाके चितचोर ॥

(४०)

सखे ! देखा है जबसे दग्ध,
 ग्रीष्मके उरका मैंने दाह ।
 हुआ करुणाप्लावित मैं अरे,
 भूल बैठा हूँ अपनी आह ॥
 फफोले फूट फूटकर हाय,
 हृदयमें बन बैठे हैं घाव ।
 तस बालूमें जैसा पड़ा,
 छटपटाता हर कोमल भाव ॥
 तिलमिलाती हैं जलती साँस,
 तड़फते दहके दहके प्राण ।
 पजलती अधरोंपर हो विकल,
 मिलन-स्मृतिकी मधुमय मुसकान ॥
 हो गया है जल जलकर हाय,
 तापमय जिसका सकल शरीर ।
 अरे इस तस ग्रीष्मकी कृष्ण !
 न देखी जाती मुझसे पीर ॥
 छोड़ हम सबको, पहले इसे—
 बना जा शीतल नन्दकिशोर !
 अरे ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
 सलोने राधाके चितचोर ॥

(४१)

विरागी, विरही, व्याकुल, व्यथित,
 शुब्ध, सन्तप्त, दुखी, अति मौन ।
 दीन-सा, त्यागी, वसनविहीन,
 अरे होगा पतझड़-सा कौन ॥
 झुरझुरी-सी भर कर हर समय,
 सिहरता रहता जिसका गात ।
 झुलसते अनचाहेसे तरस,
 अश्रुसे झरते रहते पात ॥
 देख दुखियाते जिसको सभी,
 न करता कोई पलभर प्यार ।
 बना रहता फिर भी गम्भीर,
 छिपाये शान्त पलकमें ज्वार ॥
 निरख इतनी निस्पृहता और,
 हृदयमें अनगिनती अंगार ।
 हो गया है सौ गुना अधीर,
 सखा ! मेरे दुखका संसार ॥
 पीरको मेरी रह रह अरे,
 गया जो बार-बार झकझोर ।
 बचा ओ गोपीवल्लभ ! उसे
 सलोने राधाके चितचोर ॥

(४२)

सुलगते ऋतुओंके ये दृश्य,
 न लेने देते सुखकी साँस ।
 पक ही साथ प्राणमें लगे,
 चुभी हूँ जैसे सौ सौ फाँस ॥
 कहाँ छिप जाऊँ मुझको नहीं
 दीखता कोई ऐसा ठौर ।
 जहाँपर नहीं बनूँगा अरे
 कृष्णके विरह-कालका कौर ॥
 दीखता नहीं कहीं भी मुझे
 आज ब्रजमें कोई सुख-औँव ।

न मिलती तिलभर शीतल भूमि,
 प्रज्वलित होते हर तल पाँव ॥
 यहाँ क्या इस जीवनसे लाभ
 नहीं जिसमें कोई आनन्द ।
 बनाऊँगा यमुनाको गोद
 आज निश्चित सुन लो गोविन्द !
 जिया जाता अब ऐसे नहीं
 हर घड़ी सहते संकट घोर ।
 सुनो ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
 सलोने राधाके चितचोर ॥

(४३)

सोचकर यों, पागलकी तरह
 दौड़ जा कालिन्दीके कूल ।
 नमनकर यमुना माँको
 और लगा मस्तकपर ब्रजकी धूल ॥
 अश्रुप्लावित नयनोंसे निरख,
 प्रेमसे नन्दगाँवकी ओर ।
 किया सादर प्रणाम करबद्ध,
 वहींसे होकर आत्मविभोर ॥
 कहा फिर व्याकुल स्वरसे, कृष्ण !
 जा रहा हूँ मैं अब गोलोक ।
 मिलूँगा तुमको भैया ! वहीं,
 न करना सुनकर मेरा शोक ॥
 लताओ ! वृक्षो ! कुंज-करील !
 कदम्बो ! अन्तिम राधेक्ष्याम !
 सुभग वरसाने ! राधे बहिन !
 तुम्हें मेरे शत कोटि प्रणाम ॥
 और फिर चढ़ा अर्घ्यकी भाँति
 ब्रजधरापर नयनोंसे बूँद ।
 कृष्णका प्यारा मनसुख हाय !
 गया शट कालिन्दीमें कूद ॥
 (क्रमशः)

प्रगतिशील जीवन और आध्यात्मिक चिन्तन

(लेखक—श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०)

मानव-जीवनकी प्रगति दो बातोंपर निर्भर करती है। एक सदा नये-नये श्रेष्ठ काम करते रहनेसे और दूसरे सदा नये आध्यात्मिक विचारोंको मनमें लानेसे। काम करनेसे मनुष्यका लौकिक अनुभव बढ़ता है। उसके मानसिक भावोंका शोध होता है और उसे अपने-आपको जाननेका अवसर मिलता है। आध्यात्मिक चिन्तनसे मनुष्य अपने भीतर रहनेवाली अमित शक्तिका ज्ञान प्राप्त करता है, उससे उसका आत्म-विश्वास बढ़ता है। उसके मनमें नयी सृष्टि उत्पन्न होती है। इसके कारण वह अपनी भूलोंको सुधार सकता है और अपने कामको सुन्दर नवीन ढंगसे करता है। इंग्लैण्डके प्रसिद्ध साहित्यकार बेकन महाशयने क्रिया और चिन्तनको प्रगतिशील जीवनके लिये नितान्त आवश्यक बताया है। अरस्तू महाशयके अनुसार सच्चा सद्गुण वह है, जिसका एक ओर आधार क्रिया हो और दूसरी ओर ज्ञान हो। सच्चा सद्गुणी मनुष्य बाहरी सफलतासे अपने जीवनकी मौलिकताको नहीं मानता, वह किसी कार्यकी सफलता इस विचारसे देखता है कि उसे कहाँतक मौलिक ज्ञान प्राप्त हुआ है। हमारे पुराने ग्रन्थ योगवासिष्ठने कर्म और ज्ञानरूपी दो पंख माने हैं। मनुष्य न केवल कर्मसे और न ज्ञानसे अपने जीवनको प्रगतिशील अथवा सफल बना सकता है। अच्छा ज्ञान वह है, जो कर्मका पथप्रदर्शक बने, जो मनुष्यकी कार्यक्षमताको बढ़ावे। इसी प्रकार कोई भी मला कर्म मनुष्यमें नये ज्ञानकी वृद्धि करता है। सभी कर्मोंका अन्त नये आध्यात्मिक ज्ञानकी वृद्धि करता है।

जब मनुष्यके जीवनमें कर्म और ज्ञान—दोनोंका साम्य न होकर किसी एककी अत्यधिक वृद्धि होने लगती है तो मानसिक विषमताकी स्थिति उत्पन्न होने लगती है। यही स्थिति मानसिक रोगकी स्थिति है। जो मनुष्य सदा काममें ही लगे रहते हैं, वे आध्यात्मिक चिन्तनकी क्षमता खो देते हैं। ऐसे मनुष्य अपने जीवनकी सफलताको बाहरी परिणामोंके द्वारा मापने लगते हैं। जैसे-जैसे उन्हें बाह्य संसारमें सफलता मिलती है, वे आगे बढ़ते जाते हैं। बाहरी सफलताको जीवनकी प्रगतिका मापदण्ड बना लेनेपर मनुष्यमें अहंकारकी वृद्धि हो जाती है। फिर वह अपनी सफलताके आध्यात्मिक कारणको भूल जाता है। ऐसी अवस्थामें उसकी

सूक्ष्म दृष्टिका ह्रास हो जाता है। इसके कारण उससे नाना प्रकारकी भूलें होने लगती हैं। इन भूलोंके कारणको वह अपने आपमें न खोजकर अपनेसे बाहर खोजने लगता है। वह अपनी असफलताका दोष दूसरोंके ऊपर मढ़ने लगता है और जब उसमें दूसरोंके प्रति दोष-दृष्टि आ जाती है, तब वह अपने मित्रोंकी संख्या घटा लेता है और शत्रुओंकी संख्या बढ़ा लेता है। जब मनुष्यकी दृष्टि सर्वथा लौकिक हो जाती है तो प्रत्येक नये कामके हाथमें लेते ही उसके मनमें अनेक प्रकारके सन्देह उत्पन्न होने लगते हैं। इन सन्देहोंके कारण वह किसी भी कामको पूरी लगनसे नहीं कर सकता। फिर उसे अपने चारों ओर निराशावादका वातावरण दिखायी देता है। ऐसा व्यक्ति उत्साहहीन होकर क्रियाहीन हो जाता है। यदि उसका पूर्व अभ्यास मला हुआ तो वह क्रियाहीन होनेपर अपने आपमें ही अपनी असफलताका कारण खोजने लगता है। वह अपने अभिमानको त्याग कर अपने आपको किसी महान् तत्त्वके प्रति समर्पित कर देता है। ऐसा करनेपर उसमें नया उत्साह आ जाता है। जिस मनुष्यका पूर्व अभ्यास आध्यात्मिकताके प्रतिकूल होता है, वह लौकिक विफलताकी उपस्थिति होनेपर मृत्युका आवाहन करने लगता है। फिर जैसा उसका आन्तरिक मन चाहता है, बाहरी घटना भी उसी प्रकारकी घटित होती है अर्थात् वह अपने-आपका विनाश कर डालता है।

जिस प्रकार केवल कर्म मनुष्यके जीवनको प्रगतिशील नहीं बनाता, उसी प्रकार केवल ज्ञान भी मनुष्यके जीवनको प्रगतिशील नहीं बनाता। कर्मके बिना ज्ञान अनुभवहीन होता है। वह पोथी-पण्डितका ज्ञान होता है। कर्मके द्वारा मानसिक भावोंका परिष्कार होता है। इसके न होनेपर मनुष्यका चिन्तन निराशावादी, नकारात्मक और अन्धकारमय हो जाता है। उसकी बुद्धि उसे किसी एक निश्चयपर नहीं ले जाती। उसे सभी कुछ दोषपूर्ण दिखायी देते हैं। वह सभी वादोंमें झूठ-ही-झूठ देखता है। किसी भी सिद्धान्तसे उसे संतोष नहीं होता। ऐसी अवस्थामें उसे बाध्य होकर आध्यात्मिक चिन्तनसे उदासीन होना पड़ता है। वह अपने आत्मविश्वासको खो बैठता है। इस प्रकार कर्मकी अवहेलना करके जो व्यक्ति हमेशा आध्यात्मिक चिन्तनमें लगा रहता

है, उसे ठोस ज्ञान लाभ नहीं होता। सच्चा आध्यात्मिक ज्ञान वह है जो कि अनुभवकी मितिपर खड़ा हो। यह अनुभव संसारमें अनेक प्रकारकी परिस्थितियोंमें पढ़नेसे, अनेक प्रकारके लोगोंके सम्पर्कमें आनेसे और अनेक प्रकारके आचरण-व्यवहार करनेसे आता है। जो मनुष्य जान-बूझकर अपने मनको कर्ममें नहीं लगाता, उसे बाध्य होकर अपने-आपको कर्ममें लगाना पड़ता है।

संसारके साधारण लोग भोगासक्त और कर्मासक्त होते हैं। आध्यात्मिक ज्ञानकी ओर प्रवृत्ति थोड़े ही लोगोंकी होती है। अतएव जितनी आवश्यकता ज्ञानासक्त लोगोंको कर्मकी बतानेकी है, उससे कहीं अधिक आवश्यकता कर्मासक्त लोगोंको ज्ञानमें अनुराग रखनेकी बतानेकी है। आध्यात्मिक चिन्तनसे मनुष्य अपने आपमें निहित मूल शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त करता है। मनुष्यकी कर्ममें सफलता उसके अपने-आपके विषयमें अर्थात् मानसिक शक्तियोंके विषयमें सद्युचित ज्ञान प्राप्त करनेपर निर्भर करती है। जो व्यक्ति अपनी मानसिक शक्तियोंके विषयमें जितना ही अधिक सोचता है, उतना ही अधिक उन शक्तियोंके विषयमें ज्ञान प्राप्त करता है। विचारकी शक्ति कितनी अधिक है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। जब मनुष्य अपनी विचारशक्तिको केवल अपनी बाहरी सफलतासे मापता है तब वह एक भारी भूल करता है। हम जो कुछ कार्य बाह्य जगत्में कर सकते हैं, वह हमारी वास्तविक कार्य करनेकी योग्यताका क्षुद्र भाग है। मनुष्यमें कार्य करनेकी कितनी शक्ति है, इसका स्वयं उसे ज्ञान नहीं रहता। वह थोड़ी-सी सफलताको ही बहुत-सी मान लेता है और फिर वह उसे भी खो देता है। मनुष्यकी किसी बातमें कार्यक्षमता उसके आत्मविश्वासपर निर्भर करती है। यह आत्मविश्वास सच्चे आध्यात्मिक चिन्तनका परिणाम होता है। जो मनुष्य वर्तमान कालके कर्तव्यपर ही अपने ध्यानको केन्द्रित करता है और बची हुई शक्तिको आध्यात्मिक चिन्तनमें लगाता है, उसका आत्मविश्वास कभी विनष्ट नहीं होता। जो व्यक्ति प्रत्येक कार्यके सम्बन्धमें आगे-पीछेकी बातको बहुत सोचा करता है, जो भविष्यके बारेमें अत्यधिक चिन्तित रहता है, वह अपनी बहुत-सी शक्ति व्यर्थकी चिन्तामें खो देता है। ऐसे व्यक्तिका आत्मविश्वास नष्ट हो जाता है। फिर उसकी कार्यक्षमता भी जाती रहती है और उससे अनेक प्रकारकी भूलें होती रहती हैं। ये भूलें विगड़े हुए मानसिक साम्यकी प्रतीक हैं। ये मनुष्यको

आध्यात्मिक चिन्तनकी आवश्यकता बतलाती हैं। जब मनुष्य अपनी सफलतासे अत्यधिक फूलकर लंबी-लंबी योजनाएँ बनाता है, तब भी वह अपने मानसिक साम्यको खो देता है। उसकी योजनाएँ अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ उत्पन्न करती हैं। उसके मनमें अनेक प्रकारके संदेह लाती हैं और इस प्रकार मनुष्यकी सफलता भी उसकी विफलताका कारण बन जाती है।

आध्यात्मिक चिन्तन चिन्ताओंके निवारणका सर्वोत्तम मार्ग है। जब मनुष्यका मन नित्य-तत्त्वके पहचाननेमें लग जाता है, तब वह अपने जीवनमें आनेवाली घटनाओंको उतना महत्त्व नहीं देता, जितना कि वह आध्यात्मिक चिन्तनके अभावमें देता है। इसके कारण ये घटनाएँ उसके मनको उद्दिग्ग्न नहीं करती हैं। जब मनुष्य शान्त रहता है, तब वह मनकी अशान्त अवस्थाकी अपेक्षा कहीं अधिक काम कर सकता है। मनुष्य भावी घटनाओंके चिन्तन करनेसे जितनी अपनी मानसिक शक्तिको खोता है, उतनी मानसिक शक्तिको वह काम करनेमें नहीं खोता। मनुष्यकी अत्यधिक मानसिक शक्ति अपने मनमें भयके विचारोंको लानेसे नष्ट होती है। मनुष्यके मन उसके जीवनमें उन्हीं घटनाओंको घटा देते हैं, जिनसे वह डरता है। इन भयोंकी उत्पत्तिका कारण वर्तमान कर्तव्यको छोड़कर भविष्यके विषयमें अत्यधिक चिन्ता करना है। आध्यात्मिक चिन्तनसे मनुष्य वर्तमानमें रहना सीखता है और इस कारण वह अकारण भयोंसे अपने आपको मुक्त कर लेता है।

आध्यात्मिक चिन्तन मनुष्यको नित्य-तत्त्वकी ओर ले जाता है। मनुष्यकी शक्तिके ह्रासका प्रधान कारण उसका व्यक्तिगत स्वार्थोंके विषयमें अत्यधिक चिन्ता करना होता है। जब मनुष्य अपने कार्योंका लक्ष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी पूर्ति न बनाकर किसी महान् आदर्शकी प्राप्तिको बना लेता है, तब उसका मन डाँवाँडोल अवस्थासे मुक्त हो जाता है। वह क्षणिक सफलता या विफलतासे न तो उत्साहित होता है और न उद्दिग्ग्न। जिस मनुष्यके कार्योंका उद्देश्य सबका कल्याण होता है, उसकी क्षमता अपार होती है। परंतु अपने कार्योंका लक्ष्य मनुष्य, समीका कल्याण तबतक नहीं बना सकता, जबतक कि वह अपने आन्तरिक स्वत्वकी सर्वव्यापी तत्त्वसे एकता नहीं देखता। जब मनुष्य यह देखने लगता है कि सभीके कल्याणके बारेमें सोचनेमें ही उसका कल्याण है और सबके हितचिन्तनसे उसे

वास्तविक सुख और शान्ति उपलब्ध हो सकती है, तभी वह अपने वैयक्तिक स्वार्थको छोड़कर अपने मनको दूसरेके कल्याणमें लगा सकता है। इसके लिये प्रतिदिन आध्यात्मिक चिन्तन करना नितान्त आवश्यक है। जबतक मनुष्यको यह ज्ञान नहीं होता कि दूसरोंका लाभ करनेसे न केवल उसे लौकिक ज्ञान लाभ होता है, वरं उसे आन्तरिक पूर्णताका अनुभव होता है, तबतक वह पूरे मनसे कभी भी दूसरोंके कल्याणमें नहीं लग सकता।

जो लोग आध्यात्मिक चिन्तनसे विमुख होकर केवल लोकोपयोगी कार्यमें लगे रहते हैं, वे अपनी ही सफलतापर अथवा अपने सद्गुणोंपर मोहित हो जाते हैं। वे अपने-आपको लोकसेवकके रूपमें देखने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें वे आशा करते हैं कि सब लोग उनके कार्योंकी प्रशंसा करें,

उनका सम्मान-सत्कार करें और उनके आदेशका पालन करें और बिना किंतु-परंतुके उनका कहा मानें। ऐसे लोगोंमें अपनी ही बातको ऊँची तथा सच्ची माननेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। फिर उनका बढ़ा हुआ अभिमान उन्हें अनेक लोगोंका शत्रु बना देता है। वे द्वेषका प्रोषण करते हैं, इससे उनकी लोकसेवा उन्हें वास्तविक लोकसेवक न बनाकर, लोक-विनाशकका रूप दे देती है। वे अहंकारवश केवल अपनी ही बातका समर्थन तथा उसीके अनुसार काम करते जाते हैं। उनका हठधर्म उन्हें विनाशकी ओर ले जाता है। आध्यात्मिक चिन्तनके बिना मनुष्यमें विनीत-भाव नहीं आता और न उसमें अपने-आपको सुधारनेकी क्षमता रह जाती है। वह भूलोंपर भूलें करता चला जाता है और इस प्रकार अपने जीवनको विफल बना लेता है।

सब माननेकी बात है !

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्. ए०, पी०-एच्० डी०, मानस-शास्त्रविशेषज्ञ)

हमारी शक्तियोंका हमें ज्ञान नहीं है। हम मामूली चालसे चलते और आलस्यभरे दिमागसे विचार करते हैं। इस अधूरे प्रयास और थके हुए संकल्पबलके कारण हम जो कुछ हो सकते हैं, वह नहीं हो पाते। बहुत-से विद्यार्थी मामूली खेल-कूद, सस्ती नेतागिरी, फिल्म-एक्टिंग तथा फैशनकी देखरेखमें ही अपना मूल्यवान् जीवन समाप्त कर देते हैं और वर्षके अन्तमें फेल होकर अध्ययन छोड़ बैठते हैं। जब कि वे ही यदि मनोयोग-पूर्वक श्रम करते तो प्रसिद्ध डाक्टर या इंजीनियर बन सकते थे। वे अपनी गुप्त सोयी हुई मानसिक शक्तियोंको नहीं जानते। इसीलिये ऊपरके स्तरवाला जीवन अर्जित करते हैं।

जो मामूली श्रम करेगा या आलस्यमें पड़ा अथवा देरतक सोया रहेगा, वह दो कौड़ीका साधारण नागरिक बनकर रह जायगा। ऐसे ओछे व्यक्ति, कामचोर एक ही स्थितिमें पड़े रहते हैं। वे कूपमण्डूक हैं। वे अपने बुझुगोंकी ही कमाई खाते रहते हैं। बड़ी-बड़ी जायदादें खतम कर डालते हैं और सदा दुःखोंसे पिसते रहते हैं।

हम यह क्यों नहीं सोचते कि पुराने जमानेमें मनुष्यने जो कुछ किया है, हम उससे भी अधिक कर सकते हैं। हम प्राचीनकालकी अपेक्षा आज अधिक चतुर, ज्ञानवान्, विवेकवान् और साधनसम्पन्न हैं।

वास्तवमें सब कुछ कारण हमारे 'मानने' में है। यदि हम अपने आपको मजबूत मानने लगे, हर शुभ कार्यमें समर्थ सोचने लगे, सफल कहने लगे, भाग्यवान् समझने लगे, तो निश्चय ही बहुत ऊँचे उठ सकते हैं। हम अपनेको कुछ मानें, अपनी शक्तियाँ बढ़ावें, अपने अंदर विश्वास करें, फिर उसीके अनुरूप श्रम करें तो महान् पद प्राप्त कर सकते हैं।

हम मानते नहीं, विश्वास नहीं करते, इसलिये कार्य नहीं कर दिखाते। दुनियाँमें कोई भी कार्य पहले 'मान लेने'से होता है।

वस्तुतः जैसा हमारा 'मानना' होगा अर्थात् जैसा हमारा अपने विषयमें आधारभूत विचार होगा, वैसा ही फल होगा। गलत माननेका फल गलत और ठीक माननेका फल ठीक होता है। इस स्वर्णसूत्रका उदाहरण हम अपने जीवनमें क्षण-प्रतिक्षण देख सकते हैं।

यदि हम किसी बातका अस्तित्व मानते हैं, तो उसके अस्तित्वकी खोज करेंगे और न हुआ, तो हमारा मानना गलत था।

अपने मन, शरीर, आत्माकी शत-शत शक्तियोंका और संसारमें जितना हम कर सकते हैं, जो हमारी पहुँचके भीतर है, जो वस्तुतः हमें कर ही डालना चाहिये, उस सबका ज्ञान हमें न होनेसे ही, उसका उपयोग न होनेसे ही हमें सर्वत्र दुःख, अभाव और शून्य प्रतीत होता है।

याद रखिये, सब शक्तियाँ, सूक्ष्म जगत्का सब भण्डार हमारे 'मानने' की बाट जोह रहे हैं कि हम उन्हें मान लें, तब वे प्रकट हों।

ये सब जाग्रत् और प्रकट होकर प्रकाशमें आनेके लिये हमारे विचारोंकी जादूभरी आज्ञाका रास्ता देखते हैं। हमने अपनेको जगत्में जैसा मान रक्खा है, वह बहुत थोड़े अंशोंमें सत्य है और अभी बहुत बड़े अंशोंमें गलत है।

हमारा अस्तित्व हमारे आजके माननेकी अपेक्षा बहुत अधिक ऊँचा माननेपर निर्भर है। यदि हम अपनेको मनुष्य समझते हैं तो हमें प्राचीन वीरों, प्राचीन विद्वानोंसे भी बड़े अद्भुत करिश्में कर दिखाने चाहिये। इतना ही नहीं, यदि हम अपनेको ईश्वरका सद्गुणी पुत्र समझ लें, तो ईश्वरके सब गुण, दिव्य शक्तियाँ, आत्म-ज्ञान, सर्वोच्च शक्ति अथवा यों कहिये कि ईश्वरत्व हमें प्राप्त हो जाय।

यदि हमें यह विश्वास हो जाय कि हम बलके देवता हैं। मनोराज्य हमारा है। हम पूर्ण स्वतन्त्र हैं, तो हम किसीका भी सहारा न लें। आवश्यकता है बस माननेकी और सवाल हल करनेकी।

चींटी और शेर—दोनोंके उदाहरण सामने हैं। तुम किसके बच्चे हो ? तुम्हारी कितनी महान् परम्पराएँ हैं ? तुम कितना अधिक कर सकते हो ? तुममें कितनी

अद्भुत शक्ति है ? तुम मालिक बनोगे या नौकर ? यह आज ही निर्णय कर लो।

हमारे विश्वासमें, निश्चय और संकल्पबलमें क्या-क्या चमत्कार सम्भव हैं, यह अकथनीय है। हम अपनी शक्तियोंकी खोज ही नहीं करते। हम समझते हैं कि संसारकी जो चाल नजर आती है, वही हममें है। हम भी मामूली-से निरीह प्राणी हैं—यही हमारी गलती है।

दूसरी कमजोरी यह है कि हमें अपने काममें उत्साह ही नहीं है। हम नीचोंको देखते हैं, अपने सम्बन्धमें साधारण-से विचार रखते हैं, फिर उन्नतिशील कैसे होंगे ?

पर्वतकी चोटीपर दृष्टि जमानेवाला अवश्य यह इच्छा करेगा कि देखें तो वहाँ कैसा है। जो दृष्टि ही नहीं उठाता, वह भला उन्नतिके शिखरपर कैसे चढ़ेगा ?

हम उन्नत पुरुषोंके विचारों, कार्यों एवं उनके जीवनको देखते ही नहीं, अपने आस-पास ही देखते हैं, मामूलीसे ही संतुष्ट हो जाते हैं; फिर उन्नतिके विचार कैसे आवें और उन्नति कैसे हो ?

प्राचीन और वर्तमान कालके महापुरुषोंने जो-जो बड़े कार्य किये हैं, उन्हें देखकर हम अचम्भा करते हैं और यह कहते हैं कि 'उन लोगोंमें शक्ति थी, इसीलिये उन्होंने यह महान् कार्य किया। हममें शक्ति नहीं है।' ऐसा मानना बड़ी भारी भूल है। उन लोगोंके बड़े कार्योंको देखकर हमें भी इच्छा करनी चाहिये और उत्साह आना चाहिये कि हम भी वैसा ही, प्रयुक्त उससे भी हजारगुना बड़ा और ऊँचा कार्य करें।

अपने प्रति अखण्ड विश्वाससे ही हम भविष्य बना सकते हैं।

नास्ति चात्मसमं बलम्।

अपनेपर भरोसे-जैसी दूसरी कोई शक्ति नहीं है।

वास्तविक सुख और शान्ति उपलब्ध हो सकती है, तभी वह अपने वैयक्तिक स्वार्थको छोड़कर अपने मनको दूसरेके कल्याणमें लगा सकता है। इसके लिये प्रतिदिन आध्यात्मिक चिन्तन करना नितान्त आवश्यक है। जबतक मनुष्यको यह ज्ञान नहीं होता कि दूसरोंका लाभ करनेसे न केवल उसे लौकिक ज्ञान लाभ होता है, वरं उसे आन्तरिक पूर्णताका अनुभव होता है, तबतक वह पूरे मनसे कभी भी दूसरोंके कल्याणमें नहीं लग सकता।

जो लोग आध्यात्मिक चिन्तनसे विमुख होकर केवल लोकोपयोगी कार्यमें लगे रहते हैं, वे अपनी ही सफलतापर अथवा अपने सद्गुणोंपर मोहित हो जाते हैं। वे अपने-आपको लोकसेवकके रूपमें देखने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें वे आशा करते हैं कि सब लोग उनके कार्योंकी प्रशंसा करें,

उनका सम्मान-सत्कार करें और उनके आदेशका पालन करें और बिना किंतु-परंतुके उनका कहा मानें। ऐसे लोगोंमें अपनी ही बातको ऊँची तथा सच्ची माननेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। फिर उनका बड़ा हुआ अभिमान उन्हें अनेक लोगोंका शत्रु बना देता है। वे द्वेषका प्रोषण करते हैं, इससे उनकी लोकसेवा उन्हें वास्तविक लोकसेवक न बनाकर, लोक-विनाशकका रूप दे देती है। वे अहंकारवश केवल अपनी ही बातका समर्थन तथा उसीके अनुसार काम करते जाते हैं। उनका हठधर्म उन्हें विनाशकी ओर ले जाता है। आध्यात्मिक चिन्तनके बिना मनुष्यमें विनीत-भाव नहीं आता और न उसमें अपने-आपको सुधारनेकी क्षमता रह जाती है। वह भूलोंपर भूलें करता चला जाता है और इस प्रकार अपने जीवनको विफल बना लेता है।

सब माननेकी बात है !

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी०-एच्० डी०, मानस-शास्त्रविशेषज्ञ)

हमारी शक्तियोंका हमें ज्ञान नहीं है। हम मामूली चालसे चलते और आलस्यमरे दिमागसे विचार करते हैं। इस अधूरे प्रयास और थके हुए संकल्पबलके कारण हम जो कुछ हो सकते हैं, वह नहीं हो पाते। बहुत-से विद्यार्थी मामूली खेल-कूद, सस्ती नेतागिरी, फिल्म-एक्टिंग तथा फैशनकी देखरेखमें ही अपना मूल्यवान् जीवन समाप्त कर देते हैं और वर्षके अन्तमें फेल होकर अध्ययन छोड़ बैठते हैं। जब कि वे ही यदि मनोयोग-पूर्वक श्रम करते तो प्रसिद्ध डाक्टर या इंजीनियर बन सकते थे। वे अपनी गुप्त सोयी हुई मानसिक शक्तियोंको नहीं जानते। इसीलिये ऊपरके स्तरवाला जीवन व्यतीत करते हैं।

जो मामूली श्रम करेगा या आलस्यमें पड़ा अथवा देरतक सोया रहेगा, वह दो कौड़ीका साधारण नागरिक बनकर रह जायगा। ऐसे ओछे व्यक्ति, कामचोर एक ही स्थितिमें पड़े रहते हैं। वे कूपमण्डूक हैं। वे अपने मुलुगोंकी ही कमाई खाते रहते हैं। बड़ी-बड़ी जायदादें खतम कर डालते हैं और सदा दुःखोंसे पिंसते रहते हैं।

हम यह क्यों नहीं सोचते कि पुराने जमानेमें मनुष्यने जो कुछ किया है, हम उससे भी अधिक कर सकते हैं। हम प्राचीनकालकी अपेक्षा आज अधिक चतुर, ज्ञानवान्, विवेकवान् और साधनसम्पन्न हैं।

वास्तवमें सब कुछ कारण हमारे 'मानने' में है। यदि हम अपने आपको मजबूत मानने लगे, हर शुभ कार्यमें समर्थ सोचने लगे, सफल कहने लगे, भाग्यवान् समझने लगे, तो निश्चय ही बहुत ऊँचे उठ सकते हैं। हम अपनेको कुछ मानें, अपनी शक्तियाँ बढ़ावें, अपने अंदर विश्वास करें, फिर उसीके अनुरूप श्रम करें तो महान् पद प्राप्त कर सकते हैं।

हम मानते नहीं, विश्वास नहीं करते, इसलिये कार्य नहीं कर दिखाते। दुनियाँमें कोई भी कार्य पहले 'मान लेने'से होता है।

वस्तुतः जैसा हमारा 'मानना' होगा अर्थात् जैसा हमारा अपने विषयमें आधारभूत विचार होगा, वैसा ही फल होगा। गलत माननेका फल गलत और ठीक माननेका फल ठीक होता है। इस स्वर्णसूत्रका उदाहरण हम अपने जीवनमें क्षण-प्रतिक्षण देख सकते हैं।

यदि हम किसी बातका अस्तित्व मानते हैं, तो उसके अस्तित्वकी खोज करेंगे और न हुआ, तो हमारा मानना गलत था ।

अपने मन, शरीर, आत्माकी शत-शत शक्तियोंका और संसारमें जितना हम कर सकते हैं, जो हमारी पहुँचके भीतर है, जो वस्तुतः हमें कर ही डालना चाहिये, उस सबका ज्ञान हमें न होनेसे ही, उसका उपयोग न होनेसे ही हमें सर्वत्र दुःख, अभाव और शून्य प्रतीत होता है ।

याद रखिये, सब शक्तियाँ, सूक्ष्म जगत्का सब भण्डार हमारे 'मानने' की वाट जोह रहे हैं कि हम उन्हें मान लें, तब वे प्रकट हों ।

ये सब जाग्रत् और प्रकट होकर प्रकाशमें आनेके लिये हमारे विचारोंकी जादूमरी आझाका रास्ता देखते हैं । हमने अपनेको जगत्में जैसा मान रक्खा है, वह बहुत थोड़े अंशोंमें सत्य है और अभी बहुत बड़े अंशोंमें गलत है ।

हमारा अस्तित्व हमारे आजके माननेकी अपेक्षा बहुत अधिक ऊँचा माननेपर निर्भर है । यदि हम अपनेको मनुष्य समझते हैं तो हमें प्राचीन वीरों, प्राचीन विद्वानोंसे भी बड़े अद्भुत करिश्में कर दिखाने चाहिये । इतना ही नहीं, यदि हम अपनेको ईश्वरका सद्गुणी पुत्र समझ लें, तो ईश्वरके सब गुण, दिव्य शक्तियाँ, आत्म-ज्ञान, सर्वोच्च शक्ति अथवा यों कहिये कि ईश्वरत्व हमें प्राप्त हो जाय ।

यदि हमें यह विश्वास हो जाय कि हम बलके देवता हैं । मनोराज्य हमारा है । हम पूर्ण स्वतन्त्र हैं, तो हम किसीका भी सहारा न लें । आवश्यकता है बस माननेकी और सवाल हल करनेकी ।

चींटी और शेर—दोनोंके उदाहरण सामने हैं । तुम किसके बच्चे हो ? तुम्हारी कितनी महान् परम्पराएँ हैं ? तुम कितना अधिक कर सकते हो ? तुममें कितनी

अद्भुत शक्ति है ? तुम मालिक बनोगे या नौकर ? यह आज ही निर्णय कर लो ।

हमारे विश्वासमें, निश्चय और संकल्पबलमें क्या-क्या चमत्कार सम्भव हैं, यह अकथनीय है । हम अपनी शक्तियोंकी खोज ही नहीं करते । हम समझते हैं कि संसारकी जो चाल नजर आती है, वही हममें है । हम भी मामूली-से निरीह प्राणी हैं—यही हमारी गलती है ।

दूसरी कमजोरी यह है कि हमें अपने काममें उत्साह ही नहीं है । हम नीचोंको देखते हैं, अपने सम्बन्धमें साधारण-से विचार रखते हैं, फिर उन्नतिशील कैसे होंगे ?

पर्वतकी चोटीपर दृष्टि जमानेवाला अवश्य यह इच्छा करेगा कि देखें तो वहाँ कैसा है । जो दृष्टि ही नहीं उठाता, वह भला उन्नतिके शिखरपर कैसे चढ़ेगा ?

हम उन्नत पुरुषोंके विचारों, कार्यों एवं उनके जीवनको देखते ही नहीं, अपने आस-पास ही देखते हैं, मामूलीसे ही संतुष्ट हो जाते हैं; फिर उन्नतिके विचार कैसे आवें और उन्नति कैसे हो ?

प्राचीन और वर्तमान कालके महापुरुषोंने जो-जो बड़े कार्य किये हैं, उन्हें देखकर हम अचम्भा करते हैं और यह कहते हैं कि 'उन लोगोंमें शक्ति थी, इसीलिये उन्होंने यह महान् कार्य किया । हममें शक्ति नहीं है ।' ऐसा मानना बड़ी भारी भूल है । उन लोगोंके बड़े कार्योंको देखकर हमें भी इच्छा करनी चाहिये और उत्साह आना चाहिये कि हम भी वैसा ही, प्रत्युत उससे भी हजारगुना बड़ा और ऊँचा कार्य करें ।

अपने प्रति अखण्ड विश्वाससे ही हम भविष्य बना सकते हैं ।

नास्ति चात्मसमं बलम् ।

अपनेपर भरोसे-जैसी दूसरी कोई शक्ति नहीं है ।

सरलता

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

माता-पिताने उसका नाम तो बुधिराम रक्खा था; क्योंकि उसका जन्म बुधके दिन हुआ था; किंतु सृष्टिकर्ताने उसे बुद्धि देनेकी कृपा नहीं की। आस-पासके लोग उसे बुद्धू कहकर पुकारते थे और वह भी इसी शब्दको अपना नाम समझता था। अपने इस नामके सर्वथा अनुरूप ही वह था। कुशल यह थी कि गड़रियेके घरमें जन्म हुआ था। भेड़ें चरानेका काम करना था अपने जीवनमें उसे। भेड़ कितना नासमझ पशु है, यह तो आप जानते ही हैं।

मुझसे एक बार एक पशु-पालन-विद्याके जानकारने कहा—'किसी क्षेत्रकी घास गायेँ चर चुकी हों तो उसमें घोड़े तथा खच्चर अपना पेट भर ले सकते हैं। घोड़ोंके चरने योग्य घास न रह जाय तो भेड़ें वहाँ चरकर तृप्त होंगी। भेड़ भी न चर सकती हों, तब वहाँ बत्तख पक्षी चर सकते हैं।'।

गाँवके बाहर दूरतक ऊसर भूमि थी। ऊसरके मध्यमें तो नहीं; किंतु कुछ एक ओर हटकर ग्रामकालिकाका पक्का चबूतरा था और एक नीमका वृक्ष था। बुद्धूकी भेड़ोंका वह ऊसर मुख्य चरागाह था। गर्मियोंमें जब गधे भी ऊसरपर चरनेको कुछ नहीं पाते थे, भेड़ें इधर-उधर मुँह चलाती ही रहती थीं।

'भैया ! मैं एक झपकी ले लूँ। तुम तबतक मेरी भेड़ें ताके रहना।' बुद्धू ग्रामकालिकाको 'कालीमाई' कहता था और जब उसकी अपनी माँ यदा-कदा उसकी भेड़ें सँभाल लेती है, उसे घर भेज देती है तो यह चौरवाली माँ थोड़ी देर उसकी भेड़ें क्यों नहीं सँभाल सकती ?' वह सीधा-सा गँड़रिया अपनी सरल भाषामें

अपनी बात कहकर वहीं चौरसे नीचे नीमकी छायामें अपना मैला गमछा बिछाकर लेट जाया करता था। उसकी लाठी बगलमें पड़ी होती, लोटा-डोरी समीप रखे होते और वह डेढ़-दो घंटे मजेमें खरटि लेता पड़ा रहता। उसके शरीरपर चींटियाँ घूमती हैं या दूसरे कीड़े, इसका उसे कुछ पता नहीं होता। निद्रा प्रायः तब टूटती, जब वृक्षकी छाया दूसरी ओर हट जाती और उसके मुखपर धूप आ जाती। गमछा फटककर धूलि झाड़ दी, लाठी तथा लोटा-डोर उठा ली और भेड़ोंको सँभालनेमें लग गया।

कालीमाई बुद्धूकी भेड़ सँभाल लें। गङ्गामाईमें वह डुबकी लगा लेता है, जब भेड़ चराते गङ्गाके समीप पहुँच जाय। पीपलके नीचे जो शंकरबाबाकी पिण्डी रखी है, वे केवल इतने काम आते हैं कि उसके सामनेसे निकलते समय उनको हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया जाय। इस प्रकारके और भी अनेक देवबाबा हैं, जैसे 'डोहबाबा' (ग्रामदेवता), 'सतीमाई' जैसी कुछ 'माई' भी हैं। किसीका चौरा है, किसीका टीला है, किसीका निवास किसी वृक्षपर ही है। बुद्धूने इनमेंसे किसीको देखा नहीं है, किंतु किसीके भी होनेमें उसे कोई संदेह नहीं है। वह इन सबको हाथ जोड़कर सिर झुकाता है समीपसे निकलते समय, और इनमेंसे किसीको कोई काम बतानेमें उसे संकोच भी नहीं होता। कोई भेड़ खो गयी है तो ब्रह्मबाबा उसे ढूँढ़नेमें सहायता कर दें, कोई आँधीमें मटक गयी है तो सतीमाई उसे बचाये रखें, कुएँ-नालेमें गिरने न दें। ऐसी छोटी-मोटी प्रार्थनाएँ वह करता ही रहता है और उसे किसीसे

शिकायत नहीं है कि किसीने कभी उसकी कोई प्रार्थना अनसुनी कर दी ।

x x x

‘अवे ओ बुद्धू के बच्चे !’ गाँवके ठाकुरसाहब क्रोधमें भरे आये हैं उसके पास । इस समय वे कुछ भी कह सकते हैं ।

‘मालिक ! मैं बुद्धू हूँ । मेरे बापका नाम तो मंगलू है ।’ बुद्धू हाथ जोड़कर ऐसे सहज भावसे कह देता है, जैसे ठाकुरसाहबने उसे पहचाना नहीं हो । वह कहता ही जाता है—‘मेरा तो विवाह ही नहीं हुआ मालिक ! मेरे बच्चा कहाँसे आयेगा ।’

‘कल तू मेरे खेतमें भेड़ें क्यों नहीं लाया ?’ ठाकुरसाहबने डाँटकर पूछा । वे जानते हैं कि बुद्धूसे सिरपच्ची करना व्यर्थ है । वह गालीको भी कम ही गाली समझ पाता है । लेकिन आषाढ़ लग गया है । धानका बीज डालनेवाले खेतमें भेड़ें न बैठायी गयीं तो केवल खादके बलपर धानका रोपा इतना नहीं बढ़ेगा कि गहरे खेतमें लगाया जा सके । कल सबेरे इसीलिये अपने-आप बुद्धूके पास आये थे और कह गये थे कि वह शामसे चार-पाँच दिन उनके खेतमें भेड़ें बैठावे ।

‘मालिक ! मैं क्या कर सकता हूँ ।’ बुद्धू असहायकी भाँति हाथ जोड़े सामने खड़ा कह रहा था—‘तिवारी पण्डित आये और भेड़ोंको अपने खेतमें हाँक ले गये । अब सात दिनका तो बन्धन हो गया उनके यहाँ ।’

‘आज शामको मैं हाँक ले जाऊँगा । बन्धन तेरा मेरे यहाँ पहलेका है । मैंने पहले कहा है तुझे ।’ ठाकुरको बहुत क्रोध आया । तिवारीसे उनकी कुछ कसमकस चलती है । वैसे भी जब उन्होंने कह रक्खा था, तिवारी क्यों भेड़ें हाक ले गये ? इस समय यह न्यायकी बात सुनने-समझनेको उनका मन प्रस्तुत नहीं

था कि केवल कहनेसे बात पक्की नहीं होती । गँड़रियोंको कुछ पैसे, गुड़-सीधा भी रात भेंड़ बैठानेके लिये पहले देना पड़ता है । ठाकुरने तो कुछ दिया नहीं था और तिवारीने जब दे दिया है, उनका काम पूरा होनेसे पहले गँड़रिया दूसरेके खेतमें भेड़ें कैसे ले जा सकता है ?

‘मुझे चार जूता मार लो मालिक !’ बुद्धूने मस्तक झुका दिया । वह नहीं चाहता है कि ठाकुर तथा तिवारी परस्पर लड़ें, लठियाँ चलें और फिर कचहरी दौड़ें लोग ।

‘तुझसे क्या मतलब है ।’ ठाकुरने दहाड़ ली—‘तिवारीको मैं देख लूँगा ।’ इधर गँड़रिये कम हैं । कुल चार-पाँच झुंड भेड़ोंके हैं आसपासके कई गाँवोंके बीचमें । आषाढ़ लगनेसे पहले ही उनके लिये किसान दौड़-धूप करने लगते हैं ।

‘मालिक ! आप भले मेरे हाथ-पैर तोड़ डालो ।’ बुद्धू तो इस प्रकार खड़ा हो गया है, जैसे ठाकुर सचमुच उसके हाथ-पैर तोड़ने ही वाला हो—‘लेकिन मेरी भेड़ोंके लिये लड़ाई होगी तो मैं दिनमें ही चार गाँव दूर भेड़ हाँक ले जाऊँगा । अभी बादलका नाम तो कहीं दीखता नहीं । आठवें दिनसे आपके खेतमें भेड़ आ जायँगी ।’

‘आठवें दिन फिर कोई और हाँक ले गये तो ?’ ठाकुरका खर कुछ ढीला पड़ गया ।

‘मालिक ! मैं क्या कर सकता हूँ । गँड़रिया तो आप सबकी सुननेको ही पैदा हुआ है ।’ बुद्धूने एक सरल मार्ग बतला दिया—‘आप आठवें दिन सबेरे ही गुड़-सीधा दे देना । बन्धन हो जायगा तो कोई भेड़ हाँकनेकी हिम्मत नहीं करेगा ।’

‘अच्छी बात !’ ठाकुरने समझ लिया कि भूल उनसे हुई है । लेकिन इस गँड़रियेको इतने सस्ते वे छोड़ देनेवाले नहीं थे । चलते-चलते उन्होंने दो हाथ धर नहीं

दिया तो केवल इसलिये कि अपने खेतमें भेड़ें बैठाना आवश्यक था; किंतु धमकी देते गये—‘इस बार थानेदार-को बड़ा भेड़ा देना पड़ेगा, तब पता लगेगा तुझे कि ठाकुर संप्रामसिंहसे गुड़-सीधा अगाऊ कैसे मिलता है ।’

x x x

‘सरकार ! मुझे कुछ कह लीजिये; पर मेरे इस भेड़े-को मत ले जाइये । मेरा झुंड सूना हो जायगा ।’ आज बुद्धू बहुत व्याकुल हो गया था । उसकी समझमें ही नहीं आता था कि क्या करे वह । उसने कभी किसी-को देवा-पूजामें बलि देनेके लिये भी अपना कोई भेड़ा नहीं बेचा था, और यह भूरा तो उसके झुंडकी शोभा है । सफेद रंगका ऐंठी हुई सींगोंवाला खूब तगड़ा भेड़ा । बुद्धूको बहुत प्यारा है वह । अपने हाथसे घास तोड़कर वह इसे खिलाता, सहलाता तथा अपने साथ दौड़ाता है । आज थानेका सिपाही जुम्न खाँ उसी भेड़ेको चौकीदारसे उठाकर लेने आ गया है । बुद्धू गिड़गिड़ा रहा है—‘सरकार, आपके बाल-बच्चे होंगे । कोई उनके गलेपर छुरी फेरने लो.....!’

‘चुप.....!’ तइसे थपड़ मारते हुए जुम्न खाँने एक भद्दी गाली दी—‘बहुत उछल-कूद करेगा तो ले जाकर बंद कर दूँगा । भेड़ा न हुआ कोई अजीज हो गया । बाल-बच्चेका नाम लेता है यह.....!’ फिर गाली दी सिपाहीने ।

‘आप मुझे बंद कर दीजिये । जेल भेज दीजिये; किंतु इसे छोड़ दीजिये ।’ बुद्धू रोने लगा था । भेड़ा चिल्ला रहा था । बड़े ही व्याकुल नेत्रोंसे अपने पालक-की ओर देख रहा था । सिपाही और चौकीदारने अकस्मात् भेड़ोंके झुंडमें घुसकर उसे पकड़ लिया था । अब उसके दोनों ओरकी टोंगे एक-एक हाथमें पकड़कर चौकीदारने उसे कन्वेपर धर लिया था । आगे क्या होता

है, जैसे भेड़ेको इसका अनुमान हो गया था । वह शरीर तो हिला नहीं सकता था, पकड़ कड़ी थी, छुटपटानेका भी अवसर नहीं था, केवल सिर इधर-उधर हिलता तथा चिल्लाता था । उसके प्रत्येक शब्दसे जैसे बुद्धूका हृदय फटा जाता था ।

‘इसे छोड़ दूँ!’ सिपाही जुम्न खाँ क्रूरतापूर्वक हँसा—‘कल थानेकी जाँच करने जो सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब आ रहे हैं, उन्हें क्या परोसा जायगा, मेरा सिर या तेरा ?’

बुद्धू रोता-गिड़गिड़ाता कुछ दूर साथ गया; किंतु सिपाहीने उसे पीटकर, धमकाकर लौटनेको विवश कर दिया । रोता-कलपता वह लौट रहा था, तभी उसकी दृष्टि नीमके पेड़तले बने ग्रामकालिकाके पक्के चबूतरे-पर गयी । एक बार वह चीखा—‘कालीमाई !’

किंतु उस चबूतरेकी ओर बढ़ते बुद्धूके पैर अपने-आप रुक गये । वह अपने ओठोंमें ही बुदबुदाया—‘बेचारी माई क्या करेगी । वह थाना-पुलिससे कैसे सलटेगी ?’ अनपढ़ सरल गँडरिया—‘उसकी अपनी माँ भी तो पुलिसके नामसे काँपती है । थानेके दारोगाके हाथ-पैर जोड़कर घरकी एक बकरीको काँजी-हाउससे छुड़ाना था तो उसका बाप गया था । बुद्धूको यह भी पता नहीं कि काँजी-हाउस और थानेमें अन्तर है और उसका बाप काँजी-हाउसके मुंशीके ही पास गया था ।

‘यह काम शंकरवावा कर दे सकते हैं !’ अपने खर्गीय पिताकी याद आते ही बुद्धूको पीपलके पेड़के नीचे पिण्डीके रूपमें बैठे शंकरजीकी याद आ गयी और फिर तो वह दौड़ पड़ा । वहाँ उसने पिण्डीके पास पीपलकी जड़पर अपना सिर प्रायः पटक ही दिया—‘वावा, मेरे भेड़ेको बचा दो । थानेदारको मनाकर उसे छोड़ा लओ वावा ! सिपाही मेरी बात सुनता नहीं है ।

अवश्य ठाकुरने सिपाहीको भड़का दिया होगा। तुम इतनी दया करो बाबा !'

भगवान् शंकरको भी ऐसा भोला, इतना सरल प्रार्थना करनेवाला काहेको कभी मिला होगा। इतना अद्भुत काम भी उन्हें काहेको किसीने कभी बताया होगा। गँवार गँडरियेके आँसू टपाटप उनकी लिङ्गमूर्ति-पर गिर रहे थे। इतनी निष्कपट सहज सरल अर्चाकी उपेक्षा भी वे आशुतोष कैसे कर सकते थे।

बुद्ध रोता रहा, गिड़गिड़ाता रहा और तब अकस्मात् उसे ध्यान आया कि अपनी भेड़ोंकी खोज-खबर उसने देरसे नहीं ली है। 'उसे ला दो बाबा !' फिर उसने कहा और लाठी उठाकर भेड़ोंका झुंड जहाँ छोड़ आया था, उधर चल पड़ा।

× × ×

'मैंने उस गँडरियेको पीपलके नीचे शंकरजीकी मूर्तिपर आँसू टपकाते और गिड़गिड़ाकर रोते देखा है। वह पता नहीं क्या 'थानेदार' कह रहा था—वैद्यजीने दारोगासाहबकी नाड़ी देखी और गम्भीर होकर बोले—'दुखीकी पुकार दीनदयालके कान बहुत शीघ्र सुन लेते हैं। आपने उसे तंग तो नहीं किया है ?'

'उसका एक भेड़ा आज पकड़ मँगाया था।' दारोगा चौंका—'अभी वापस भिजवाता हूँ। क्या पता था कि वह ऐसा चमत्कारी भगत है !'

थानेदारने सिपाही जुम्न खाँको बुलानेको कहा तो सृचना मिली—'उसे जूड़ी चढ़ी है। पाँच-सात कम्बल ओढ़े काँप रहा है। कुछ बकने-झकने लगा है !'

'वह चौकीदार कहाँ है, जो भेड़ा लाया था ?' थानेदार अब बुरी तरह घबरा गया था। उसकी घबराहट

तब और बढ़ गयी, जब पता लगा कि चौकीदार तो भेड़ा किसी प्रकार पहुँचा गया है, उसे तो रास्तेमें ही ज्वर आ गया था। इधर दशा यह थी कि थानेदारके इकलौते पुत्रकी अवस्था बिगड़ती जा रही थी। उसे हैजा हो चुका था।

'मेरी दवा यहाँ कुछ नहीं कर सकती।' वैद्यजी पुराने ढंगके श्रद्धालु मनुष्य हैं। उन्होंने दो टुक उत्तर दे दिया—'देवकोपके बीच मैं नहीं पहुँगा। आप किसी औरको बुलाइये।'

भेड़ा इस बार एक सिपाहीके कन्धोंपर लादा गया और दारोगाजी खयं घोड़ेपर बैठकर उसे लौटाने चले। किंतु जब घोड़ेसे उतरकर उन्होंने 'भगतजी' कहकर बुद्धके पैर पकड़ लिये तो वह बेचारा घबरा गया। उससे एक शब्द भी बोला नहीं गया।

'मेरे बच्चेको बचा लीजिये।' थानेदार हाथ जोड़े प्रार्थना कर रहा था और बुद्ध गिड़गिड़ा रहा था—'मैं कोई जड़ी-बूटी नहीं जानता। वैद्यबाबाको बुलाइये।'

'वैद्यबाबा जवाब दे गये।' थानेदारने कहा—'उसे आप ही बचा सकते हैं।'

'मैं तो कुछ नहीं जानता।' अचानक बुद्धको स्मरण आया कि शायद शंकरबाबा दवा-दारु जानते हैं। वह उठ खड़ा हुआ—'आप थाने चलो। मैं बाबासे विनती करता हूँ।'

'बाबा, तुम्हें दवा-दारु आती है क्या ? बेचारे थानेदारका लड़का बीमार है। एक ही बेटा है उसके। उसे कोई जड़ी दे दो न !' बुद्ध पीपलके नीचे बैठ प्रार्थना कर रहा था, अंतः थानेदारको लौटनेपर अपना पुत्र रोगहीन मिला तो आश्चर्यकी क्या बात है ?

लोकोपकारकी भावना

(लेखक—श्रीचक्रधरजी 'नलिन')

क्या आपने कभी यह विचार किया है कि आप दैनिक जीवनमें दूसरोंके हितमें कहाँतक उनकी सहायता करते हैं। मुझे लगता है कि आप लोकसेवाके लिये मनमें अवश्य विचार करते होंगे, पर आपकी अत्यधिक व्यस्तता, निष्प्रयोजन अपने ऊपर एक भार लेना, अहंभाव तथा अर्थाभाव निश्चितरूपसे आपको रोकते होंगे; किंतु मैं यह नहीं मानता हूँ कि वास्तवमें आपमें लोकोपकारकी थोड़ी-बहुत इच्छा नहीं है।

हमारे वर्तमान दैनिक जीवनमें सैकड़ों ऐसे अवसर आते हैं, जब हम समाजसेवाका कुछ काम कर सकते हैं, जिसके हेतु न विशेष समय ही देनेकी आवश्यकता है, न अर्थ-व्ययकी। यदि सचमुच अपनी भावना-को साकार रूप देनेमें प्रयत्नशील हों तो आप एक भी ऐसा अवसर न खोयें, जिसमें आपकी सहायतासे किसी दूसरेका हित हो सकता हो।

आपको यह नहीं विस्मृत करना चाहिये कि समाज-सेवाका कार्य दूसरोंको ही लाभप्रद नहीं होता, वरं आप भी उन कार्योंके द्वारा स्वयं लाभान्वित होते हैं। आप किसी आवश्यक व्यक्तिकी कोई छोटी-सी सहायता कीजिये, आप स्वयं ही अनुभव करेंगे कि आप अपनी दृष्टिमें कितना ऊँचा उठ गये हैं तथा आपके हृदयमें आनन्दका सागर उमड़ पड़ेगा। यह अनिर्वचनीय हार्दिक हर्ष आप बाजारसे नहीं खरीद सकते, वरं यह तो आपके प्रत्युपकारका फल है। आपके ये कार्य—उन लोगोंके हेतु वरदान हैं, जिनकी सेवा करके आप समाज या राष्ट्रका चरित्र ऊँचा करते हैं।

ऐसा कहा गया है कि सच्चे हृदयसे की जानेवाली भ्रूणभरकी समाज-सेवाका महत्त्व आदर्शात्मक समाजसेवा या महीनोत्तक की गयी समाज-सेवासे कम नहीं है। निःस्वार्थभावसे सेवा करनेपर जो हार्दिक सन्तोष प्राप्त होता है, वह व्यक्तिके चरित्र एवं व्यक्तित्वके विकासके साथ-साथ उसका नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान भी

करता है। निःस्वार्थ त्याग एवं लोकोपकारकी भावना व्यक्तिके मेद-भावको मिटाकर हृदयकी कलुषताका शमन-कर व्यक्तिका आध्यात्मिक विकास करती है।

आप जब बहुत वेगमें किसी आवश्यक कामसे जा रहे हैं और कोई आपसे विशिष्ट स्थान—अस्पताल या स्टेशनके लिये पूछता है तो आप सरलतापूर्वक उसको आवश्यक जानकारी देकर उसकी सहायता कर सकते हैं। आप मार्गमें किसी असहाय व्यक्तिका बोझ उठाकर, किसी ऐसे व्यक्तिकी सहायता कर, जिसे बस या रेलका टिकट खरीदनेमें पैसे कम पड़ रहे हों, किसी ऐसे यात्रीको अपनी साइकिलपर बिठाकर उसे कुछ दूर ले जाकर उसकी यात्रा-दूरीको कम कर, किसी बीमार आदमीको अस्पताल पहुँचाकर, किसी अनजान परदेशी-को भोजन तथा निवास देकर—आप उसके सहायक हो सकते हैं; पर बहुधा देखा यही जाता है कि कभी समयभाव, कभी अर्थाभाव और कभी आवश्यक योग्यताका अभाव आपको वस्तुतः ऐसे लोकोपकारसे वञ्चित रखता है।

नगरोंमें बहुधा लोग पते पूछते रहते हैं—पर बहुत ही कम लोग उनकी सहायता कर लोकसेवाके अवसरका उपयोग कर पाते हैं। नगरोंमें बहुत-से लोग समाज-सेवाकी संस्थाएँ स्थापित करते, सम्मेलन करते, भाषण देते हैं; पर वास्तवमें उनमें प्रायः समाज-सेवाकी भावना परिलक्षित नहीं होती। अहंकारी कभी लोकसेवक नहीं हो सकता, कारण कि उनके नेत्रोंपर अहंकारका पर्दा पड़ा है। पर एक विनम्र-हृदयके लिये लोकसेवाका द्वार सदैव खुला है।

एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर श्रीगिरीशचन्द्र विद्यारत्नके साथ पैदल कालना ग्रामकी ओर जा रहे थे कि मार्गपर एक 'भोटिया' को गठरीपर दुर्गन्धित पड़े, दस्त और उल्टीसे लयपथ, मिनभिनाती मक्खियोंसे आच्छादित, एक बूँद पानीके हेतु तरसते देखा। जब कि उस अछूतकी ओर जाकर कोई भी सहायता नहीं

कर रहा था। विद्यासागरजी अपने सहायत्रीकी सहायतासे उस रोगीको कन्वेपर उठाकर मील-डेढ़ मील दोते हुए कालना ले गये। वहाँ उन्होंने उसका मल-मूत्र धोकर उसकी दवा आदिकी व्यवस्था कर आदर्श सेवा-शुश्रूषा-द्वारा उसे स्वस्थ कर दिया। वह व्यक्ति विद्यासागरजीके इस लोकोपकारी कृत्यसे अत्यन्त प्रभावित हुआ और उनके इस कृत्यकी प्रशंसा करता हुआ गद्गद होकर चला गया।

लोकोपकारका भाव मूलतः त्याग और बलिदानका अद्भुत समन्वय है। लोकोपकारमें व्यक्तिको अपने कष्टसे अधिक दूसरोंके कष्टोंका अनुभव होता है। एक रात आचार्य रामचन्द्रशुक्लके पास एक सज्जन पधारे। उन्होंने विपन्न मुद्रामें, नेत्रोंसे अखण्ड अश्रु धारा प्रवाहित करते हुए शुक्लजीसे कहा—‘मेरा घर नीलाम होने जा रहा है। मैं लुट गया, मिट गया, अब मैं उसे कैसे बचाऊँ?’ आचार्यजी मौन सब सुनते रहे। पुनः उठे। अपनी धर्मपत्नीके समीप जाकर उन्होंने उनकी दुर्दशा बतायी तथा जेवर लाकर उन्हें दे दिया; और इस प्रकार उन्होंने अपने त्यागके द्वारा उपर्युक्त सज्जनकी लाज बचायी।

एक बार मैं बसद्वारा एक ऐसे स्थानपर गया, जहाँ बस समाप्त होनेके पश्चात् भी कच्चे रास्ते चलकर छः मील पैदल जाना था। मईका महीना, दोपहरको ग्यारह बजे बसने मुझे पहुँचाया था। अत्यन्त परेशान होकर मैं मार्गपर चल दिया; क्योंकि मुझे एक बजे पहुँचकर वहाँसे एक बारातमें सम्मिलित होना था। चित्त धवराया हुआ था। मैं थोड़ी ही दूर चला ही था कि एक सज्जन अपनी साइकिलके द्वारा उधरसे निकले। उन्होंने मुझे खच्छ वसन पहने देखकर मुझसे मेरे गन्तव्य स्थानको पूछा और फिर वे मुझसे साइकिलपर बैठनेका अनुरोध करने लगे। मैंने शिष्टाचारवश उन्हें कष्ट न देनेकी इच्छा प्रकट की; पर वे न माने और मुझे आदर-पूर्वक उस भीषण ग्रीष्ममें पसीनेसे लथपथ हाँफते हुए उस स्थानपर छोड़ने गये, जहाँ कि मुझे जाना था। मैं

उनकी इस लोकोपकारी भावनासे दबा हुआ था, जिसका बदला किसी प्रकार भी किसी रूपमें भी नहीं चुकाया जा सकता था।

मैं स्वयं एक अध्यवसायी व्यक्ति हूँ, मैं अपने जीवन-पर जव दृष्टिपात करता हूँ तो मेरी आँखोंके समक्ष ऐसे सहस्रों व्यक्तियोंके रूप आते हैं, जिन्होंने किसी-न-किसी रूपमें मेरी सहायता की है और मैं आज भी उनका ऋणी हूँ। उन छोटी-छोटी सहायताओंसे मुझे निरन्तर बल तथा प्रेरणा मिली और मैं आगे बढ़ता रहा।

प्रत्येक दैनिक जीवन हमें ऐसे अवसर प्रदान करता है कि यदि हमारा मन, इच्छा प्रबल हो तो अपनी सामर्थ्यभर सेवा-सहायताके द्वारा हम अनेकानेक लोगोंको लाभान्वित कर सकते हैं। धन ही सब कुछ नहीं है। वरं इस जगत्में बहुत-से ऐसे दुखी हैं जो केवल सहानुभूतिके दो शब्दोंके लिये तरसते रहते हैं। प्रेमसे प्रेमकी और सद्भावनासे सद्भावनाकी प्राप्ति होती है। जब मधुर शब्दावलीसे ही दीन-दुखियोंका कष्ट घटता है तो फिर प्राप्त धनका, प्रेमका एवं उदारताका उपयोग हम नैसर्गिकरूपसे प्रचुर मात्रामें लोकोपकारके लिये क्यों न करें। हर व्यक्ति अपने समाजका और प्रोत्साहकों तथा सहायकोंका ऋणी है, जिन्होंने कि उसे समय-समयपर विविध सहायताएँ दी हैं। उनसे मुक्ति पानेका श्रेष्ठ उपाय यही है कि उसे अन्य सभी लोगोंकी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहायताएँ तथा सेवाएँ करनी चाहिये।

आज व्यक्तिवादी युगमें लोकोपकारकी भावना कम होती जा रही है; पर अब भी ऐसे लोगोंका अभाव नहीं है जो दूसरोंके हितमें सर्वस्व अर्पित करते रहते हैं। आनन्ददायिनी लोकोपकारकी भावना आत्मनुष्ठिके साथ-साथ जीवन निर्माण करती हुई अबाध गतिमें निरन्तर त्रिपथगाके समान प्रवाहित है। आवश्यक है हम उस पवित्र भावनाको अपनाकर अपने तथा दूसरोंके हृदयोंको सन्तोष प्रदान करते रहें।

समय, शक्ति एवं साधन

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

किसी भी कार्यकी सफलता समय, शक्ति एवं साधन-पर अवलम्बित है। इस साधन-त्रिपुटीके बिना साध्य-प्राप्ति असम्भव है। साधारणतया सभी व्यक्तियोंको हम यही कहते पाते हैं कि 'क्या करें, अमुक काम करनेकी इच्छा तो है, पर अवकाश नहीं मिलता; अथवा शक्ति और साधनोंकी कमी है।' पर वास्तवमें विचार करके देखा जाय तो यह बात बहुत अंशोंमें सही नहीं है। कार्य न हो सकनेका कारण समय, शक्ति और साधनोंका अभाव उतना नहीं है, जितनी तीव्र इच्छाकी कमी है। उत्कट अभिलाषा और पूरी लगन हो तो समय मिल ही जायगा, साधन भी इकट्ठे हो ही जायेंगे और शक्ति-स्रोत भी फूट निकलेगा। हम जिनकी कमी महसूस कर रहे हैं, वे हमसे दूर नहीं हैं; पर दूर दिखायी देनेका कारण है उनका दुरुपयोग। अर्थात् हम प्राप्त साधन, शक्ति एवं समयका सदुपयोग करना नहीं जानते। यदि समय ही नहीं है तो कुत्सित वासनाओं एवं व्यर्थके प्रयत्नों और बुरे कामोंको करनेके लिये तीनों चीजें कहाँसे आ जाती हैं ? इसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे हमारी गलत धारणाका सहज ही पता चल जायगा।

पग-पगपर हम अनुभव करते हैं कि जिस कामको हम सबसे अधिक आवश्यक समझते हैं, वही पहले हो जाता है। किसी भी कार्यको करनेके लिये 'समय नहीं है' कहनेका तात्पर्य यह है कि हमारा समय अन्य उपयोगी या आवश्यक कार्य (जिसे भी हमने मान रक्खा हो) में लगा हुआ है। यदि हम उसे गौण करके उसके स्थानपर, जिसे करना चाहते हैं, उसको प्रधान मान लेंगे तो वही समय पहले कामसे निकलकर दूसरेके लिये लग जायगा। उदाहरणार्थ—हमारे सामने दो काम साथ ही करनेके लिये उपस्थित हैं, जैसे भोजन करना और बीकानेर जानेके लिये गाड़ी पकड़ना। हमारी बुद्धि इनमेंसे अधिक आवश्यक कार्यपर विचारकर एकको पहले ग्रहण करेगी। मान लीजिये, हमें यह अनुभव हुआ कि बीकानेर जाना ज्यादा जरूरी है और भोजन करने में समय देनेपर गाड़ी नहीं मिलेगी, तो हम भूखे ही रहकर समयपर स्टेशन पहुँचनेके लिये तैयार हो जायेंगे। यदि हमें इसके विपरीत भोजन करना आवश्यक प्रतीत हुआ तो चट-से भोजन करने बैठ जायेंगे, चाहे समयपर स्टेशन न पहुँचने-पर गाड़ी छूट ही क्यों न जाय। यही बात अन्य सभी कार्यों-के विषयमें समझनी चाहिये। इससे हम इसी निष्कर्षपर

पहुँचेंगे कि मौखिकरूपमें चाहे हम किसी एक कार्यको अधिक आवश्यक बतलाते हुए दूसरेके लिये समयाभाव कह दें, पर वास्तवमें अनुभव यही होगा कि उसके लिये समय न मिलनेका प्रधान कारण यह है कि उससे अधिक दूसरे कामको आवश्यक मानकर उसके लिये हमने अपना समय दे रक्खा है। समय तो है, उतना है ही। उसे किस काममें लगाना है, किसमें नहीं, यह हमारी मनोवृत्ति या विचारपर निर्भर है।

अपने समग्र जीवन-कालपर जरा गहराईसे विचार करें तो पता चलेगा कि समय तो हमारे पास बहुत है, किंतु हम उसका ठीकसे उपयोग नहीं कर पाते। मान लीजिये, हमारी आयु पचास वर्षकी है। उसके दिन १८००० और उसके घंटे ४३२००० होते हैं। मिनट बनाइये तो दो करोड़ उनसठ लाख बीस हजार होंगे। अब प्रत्येक कार्यके लिये कितना समय चाहिये, इसका हिसाब लगाइये। आपको यह स्पष्ट अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा कि समय हमारे पास कम नहीं है। अतः समयकी कमीका बहाना छोड़ देना ही उचित है।

दूसरी दृष्टिसे विचार करें तो प्रतीत होगा कि व्यर्थ जाते हुए समयपर कड़ी निगरानी रखना आवश्यक है। जिन कामोंमें जितना समय लग रहा है, उससे कम समयमें वह हो सकता है या नहीं ? सोचिये, और जितने भी कम समय-में वह हो सके, कर डालनेका प्रयत्न कीजिये। इससे आपको बहुत बड़ी सफलता मिलेगी। मान लीजिये आप छः घंटे नींद लेते हैं, आधा घंटामें खाते हैं तथा पाव घंटामें स्नान करते हैं। इसी प्रकारसे अन्य काम करते हैं। अब आप प्रयत्न कीजिये कि नींदमें आधा घंटेकी बचत, खाने-स्नान करनेमें ५-४ मिनटकी बचत हो। इसी तरह जिन सैकड़ों कामोंमें, बातोंमें, आपका सारा समय लग रहा है, प्रत्येकमेंसे यथा-सम्भव कुछ-कुछ बचत कीजिये तो बहुत-से समयकी बचत करके आप उसे उस अच्छे काममें लगा सकेंगे, जिसे करने-के लिये आपको समय ही नहीं मिल रहा था।

विचार करनेपर बहुत-से कार्य तो आपको 'अनावश्यक' प्रतीत होने लगेंगे; क्योंकि जब अमुक व्यक्तिका अमुक काम न करनेपर भी काम चल जाता है तो आपका क्यों नहीं चलेगा ? आप जो वैसा मान रहे थे, वह आपकी भ्रान्त धारणाका ही परिणाम नजर आयेगा। आप स्वयं अन्य

जल्दी काम उपस्थित होनेपर उसे विना किये काम चला लेते हैं, तब उस समय भी चल सकता है। इस तरह जिनके न करने या कम करनेसे अधिक असुविधा उपस्थित न हो, उन्हें और उसके बदले कार्य-क्रममें अन्य कुछ कार्योंको नोट कर लीजिये। इसी प्रकार बुरी आदतों, कार्यों, व्यर्थकी बातों बंद करनेमें जुट जाइये। थोड़े ही समयमें आपके समयकी कमी-का प्रश्न हल हो जायगा।

अब साधनोंको लीजिये। विश्वमें साधन सर्वत्र विखरे पड़े हैं। पद-पदपर साधनोंका ढेर लगा हुआ है, पर अपनी अज्ञानतावश हम उनसे लाभ नहीं उठा रहे हैं। जिसे काम करना है वह खोजमें लग जायगा और इधर-उधर साधनोंको खोज निकालेगा और जुटा लेगा। आज यदि कम साधन मिलें तो कोई बात नहीं, प्रयत्न चालू रहनेपर कल और मिल जायेंगे। कार्य करनेवालोंको साधन नहीं मिलेंगे, इस बातको आप मनसे ही हटा दीजिये। विश्वासको बढ़ाइये, साधन मिलकर रहेंगे। बहुतसे मनुष्य 'इतनी सामग्री जुट जाय, तभी काम शुरू करेंगे' यह निश्चय कर बैठते हैं, शक्तिको लगाते नहीं। अतः साधन पूर्ण नहीं होते और कार्य हो ही नहीं पाता। मेरी रायमें जितने साधन प्राप्त हों, उन्हींके अनुसार काम करना प्रारम्भ कर दीजिये। आपके पास सौ रुपयेकी पूँजी है तो उसीके अनुरूप कार्य प्रारम्भ कर दीजिये। हजारके लिये बैठे न रहिये। काम करते रहेंगे, सफलता मिलती रहेगी। साधन जुटते रहेंगे। सच्ची लगन है तो सफलता अवश्यम्भावी है। हताश मत होइये, घबराकर काम मत छोड़िये, प्रयत्न करते रहिये। पूरे न सही, जितने भी साधनोंसे काम प्रारम्भ करेंगे, उतना फल तो कहीं नहीं जायगा। अन्यथा अधिकके पीछे थोड़ा भी खो बैठेंगे और इसके लिये आपको जीवनभर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

कुछ साधन बने-बनाये नहीं होते, तैयार करने पड़ते हैं और उन्हें हम उपेक्षावश खो बैठते हैं। कुछका उपयोग नहीं कर पाते, कुछको पहचानते भी नहीं। जहाँ-जहाँ जो भी गलती हो, सुधारिये। सच्चे खोजीके लिये साधन दुर्लभ नहीं हैं।

सच तो यह है कि समयकी भाँति साधनोंका भी हम बहुत दुरुपयोग कर रहे हैं। मनीषियोंका कहना है कि जो साधन पापके हैं, वे ही धर्मके भी बन सकते हैं। साधनोंका अच्छे या बुरे रूपमें उपयोग बहुत कुछ हमारी विचारधारा-

पर निर्भर है। धनको ही ले लीजिये। इसका सदुपयोग किया जाय तो बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं और भोग-विलास एवं दूसरोंको कष्ट देनेके लिये धन लगावें तो उनसे बहुत अनिष्ट हो सकता है। अतः साधनोंके सदुपयोग करनेकी कला भी ध्यानपूर्वक सीखनी आवश्यक है। गुण और दोष हर चीजमें मिलेंगे। हममें गुण-ग्रहणकी दृष्टि होगी तो उसकी अच्छाइयोंसे लाभ उठायेंगे। दोषमयी दृष्टि होगी तो दोषके भागी बन जायेंगे। वास्तवमें साधन अपने-आपमें अच्छे-बुरे कुछ भी नहीं हैं, हम उनका जैसे उपयोग करना चाहें, कर सकते हैं।

एक ही वस्तुको प्राप्त कर एक सुखी होता है और एक दुखी। दूसरोंकी बात जाने दीजिये। अपने जीवनमें ही कमी किसी चीजको प्राप्त कर हम आनन्दमें फूले नहीं समाते और परिस्थितिकी भिन्नतासे वही वस्तु हमें अन्य समय जहर-सी लगने लगती है। अतः साधनोंके सदुपयोगके सम्बन्धमें विवेकसे काम लेना चाहिये। एक ही साधनपर अड़े न रहकर अपना काम दूसरेसे निकल सकता हो तो उससे लाभ उठानेमें चूकना नहीं चाहिये। एकान्त आग्रह न रखकर अनेकान्त दृष्टिसे काम लेना चाहिये।

इसी प्रकार शक्तिपर भी विचार कीजिये। वास्तवमें शक्ति कहीं बाहरसे नहीं आती। समय और साधन तो बाह्य साधन हैं, पर शक्ति स्वका मूल कारण है। उसका अक्षय भण्डार तो हमारे अंदर भरा पड़ा है, पर उपेक्षावश हम उसे भूल बैठे हैं, वह अंदर दबी पड़ी है। अतः साधनोंके द्वारा उसका विकास करना है, उसे प्रकाशमें लाना है। उसकी कमीका अनुभव भी उस शक्तिके अन्य कामोंमें लगे रहनेके कारण ही है। वास्तवमें हमने अपनी शक्ति विविध कामोंमें विखेर रखी है। उसे बटोरकर सञ्चय करनेकी परमावश्यकता है। अनावश्यक एवं बुरे कार्योंमें शक्तिका जो अपव्यय हो रहा है, उसे मिटानेके लिये मिल जाना पड़ेगा और आवश्यक कार्यमें लगाकर अभ्यासके बलपर उसका विकास करना होगा। आत्म-विकास एवं साहसकी अभिवृद्धि करनी होगी। क्षुद्रप्राय एवं सुप्त-चेतनाको जाग्रत् करना होगा।

संक्षेपमें कहनेका तात्पर्य यही है कि शक्ति-संचय कीजिये, प्राप्त साधनोंके अनुसार ही आगे बढ़िये, समयको व्यर्थ खोनेसे बचाइये, सफलता आपकी मुट्ठीमें है।

सभ्यतासे मदहोश हुए हम कहाँ जा रहे हैं ?

(लेखक—श्रीकल्लूरमल्ल जी वॉडिया)

इतिहासका अध्ययन दो परस्पर सम्पूरक काम करता है । पहला तो यह कि आज तक हुई घटनाओंके अध्ययनसे हमें उस दिशाका, जिस ओर वर्तमानमें हम चले जा रहे हैं, ज्ञान हो जाता है । दूसरा यह कि जिस विकासश्रेणी तक हम पहुँचे हैं, उस वर्तमान परिस्थितिकी तुलना पूर्व विकासकी जैसी ही परिस्थितिसे कर सकते हैं, ताकि हम उसका फलितार्थ जान सकें और उसके लामालामको ध्यानमें लेते हुए अपना भावी कार्यक्रम बना सकें ।

सभ्यता और वर्चस्वता

पूर्व इसके कि हम भूत और वर्तमान घटनाओंकी तुलनासे भावी परिणामका अनुमान लगानेका प्रयत्न करें, हमें सभ्यता और वर्चस्वतासे क्या अभिप्रेत है, यह भी समझ लेना आवश्यक है; क्योंकि संसार आज सभ्यताके एक शिखरकी ओर तेजीसे दौड़ता चला जा रहा है, ऐसी मान्यता है और जो अपनेको निडड़े मानते हैं अथवा जिन्हें सभ्य संसार पिछड़ा या अर्धविकसित कहता है, वे सब बड़ी तेजीसे उनी पथके गामी हो रहे हैं । यही क्यों, वे अपनी परम्पराको सर्वथा भुला देनेतकका आग्रह करते हैं, जैसा कि आज भारतवर्षका पाश्चात्य शिक्षाविभूषित और संस्कारित व्यक्ति प्रयत्न कैसे कर रहा है ।

पिछले पचास वर्षकी घटनाएँ इतनी व्यापक और भयंकर हैं और उनकी प्रतिध्वनि इतनी जबरदस्त है कि हमारे सब मूल्य और अस्तित्वके तौर-तरीके उलटपुलट हो गये हैं । हमारे रहनेके तरीकेके आधार ही देशमें और विदेशमें, आमूलचूल बदल गये हैं और उसकी परिभाषा करनेमें 'विप्लव' शब्द भी नितान्त असमर्थ है । गार्हस्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और धार्मिक—कोई भी जीवन उमसे अछूता नहीं बचा है । लोगोंका तो यहाँतक कहना है कि काल और अवकाश (Time and Space) तकमें यह व्याप गया है । मानवकी संयोजनशीलताने इस बातका ठीक-ठीक अनुमान लगा पाना ही प्रायः असम्भव कर दिया है कि हमारी अपनी ही पीढ़ीमें हमारी जड़ें कितनी उखड़ गयी हैं और यदि हम इस अंधाधुंधी दौड़में धुनके लिये भी नहीं रुकेंगे तो सन् १९१४ से १९६४ तकका यह काल दो विभिन्न संसारोंको अलग करनेवाला ही हो जायगा । हम यह महसूस अधिकाधिक करते जा रहे हैं कि भूतकालकी स्थितिको प्राप्त करना निरी कल्पना और

सदिच्छा मात्र है । त्राण इसीमें है कि हम नयी दुनियाकी रचनामें लग जायँ और पुरानीको सर्वथा भूल जायँ । पिछले पचास वर्षोंसे पुरानी दुनिया विघटित होती ही रही है । अगले पचास वर्ष नयी दुनियाके गढ़नेमें हमें लगा देना होगा; परंतु यह विघटित पुरानेकी मरम्मत करनेके प्रयत्नमें समय खोनेसे नहीं चलेगा । हमें सर्वथा नयी नींव ही लगानी होगी । इसीलिये यह कहा जा सकता है कि हमारी सभ्यता एक ऐसे मोड़पर पहुँच गयी है कि जहाँ हम अपनेसे ही यह पूछनेको विवश हों कि हम किधर जा रहे हैं और हम किस प्रकारके भावी जीवनकी नयी नींव लगा रहे हैं ?

हाँ तो, अब हमें सभ्यता और वर्चस्वताको भी ठीक-ठीक इसलिये समझ लेना आवश्यक है कि इसका मानक बढ़ा ही अस्थिर है । एक युगकी सभ्यता किसी आगामी युगमें असभ्यताकी कोटि तकमें आ जा सकती है । जैसे हम सभ्यता, संस्कृति आदि शब्द समान अर्थमें प्रयोग करते नहीं हिचकते हैं, हालाँकि इनसे अभिव्यञ्जित होनेवाले भावोंमें अन्तर भी है, वैसे ही अंग्रेजीके तीन शब्द 'सिविलाइजेशन', 'कल्चर' और 'रिफाइनमेंट' प्रायः समान अर्थमें प्रयुक्त किये जाते हैं । हालाँकि इनसे अभिव्यञ्जित होनेवाले भावोंमें भी अन्तर है; परंतु हमें इस अन्तरमें जानेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है । सामान्य रूपसे ये शब्द क्या निर्देश करते हैं—यह जान लेना ही हमारे लिये आवश्यक है; परंतु इसमें भी एक कठिनाई है जैसा कि हमारे प्रधान मन्त्री स्वर्गीय पण्डित नेहरूजी तकने सन् १९५०में 'इंडिया काउंसिल फॉर कल्चरल रिलेशन्स'में इस विषयपर बोलते हुए स्पष्ट स्वीकार किया था कि संस्कृति क्या है ? इसकी परिभाषा या, व्याख्या मैं आपको नहीं दे सकता हूँ; क्योंकि मुझे यह अभीतक प्राप्त नहीं हुई है । परंतु साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि उन्होंने अपने सत्रह वर्षके प्रधान मन्त्रित्वकालमें इस देशको पाश्चात्य देशोंके समकक्ष संस्कृत और सभ्य बनानेमें कुछ भी उठा नहीं रखा था ।

स्पष्ट परिभाषाकी कठिनाई होते हुए भी, इसकी ठीक-ठीक अभिव्यञ्जनाका सहजतम संकेत इस या इन शब्दोंका विरोधी वर्चस्वता शब्दमें मिल जाता है । व्यवस्तरके अंग्रेजी कोशमें 'प्राथमिकता और सभ्यताके बीचकी स्थिति'को 'बारबरिज्म (वर्चस्वता)' कहा है । और इस स्थितिका प्रमुख लक्षण है—'प्राक्कालीन विश्वकुलवायु या अराजकता ।'

इसलिये यदि यह कहा जाय कि संस्कृति या सम्यता इस विशृङ्खलावस्था या अराजकताकी विरोधी स्थिति है तो उससे अभिप्रेत है 'नियमितता और अनुशासन'की स्थिति या अवस्था। अर्थात् अब मानवकी प्रवृत्तियाँ अपने साथियों और अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाओंका विचार कुछ भी नहीं रखकर यहच्छाक्रमसे होनी बंद हो गयी है। यही नहीं, अपितु वे एक निश्चित आदर्शके अनुसार प्रवाहित हो रही हैं। बर्बरता या वारवरिज्ममें व्यवस्थाका, संगठनका एकदम ही अभाव होता है। अतः सम्य या संस्कृत समाज परिवार या वंशकी स्थितिसे आगे बढ़कर अधिक संश्लिष्ट सम्यन्धों-वाले समूहोंमें व्यवस्थित या संगठित होना चाहिये और उसमें निरी सगोत्रताकी अपेक्षा अन्य कारणोंके लिये परिस्थापित नमूनेपर प्रवृत्तिका यथानुक्रममें एवं यथास्थानमें संनिवेशन भी होना चाहिये।

परंतु इस प्रकारकी व्यवस्था और संगठन तो मधुछत्तों और वमीठोंमें भी देखा जाता है। अतः हमें बर्बरता या वारवरिज्मसे मिल रही दूसरी ऐसी सूचनाका विचार करना होगा कि जो मानव-समाजकी विशिष्टताकी ओर हमें ले जाय। उसके लिये हमें 'बर्बर' या 'वारवरपन' शब्दसे क्या अभिप्रेत है, इसका विचार करना होगा। इस या इन शब्दोंका प्रयोग हम तब करते हैं, जब कि कोई घटना या व्यवहार हमारी उस भावनाको ठेस पहुँचाता है कि जिसे हम संवेदनशील भावना या 'फाइनर फीलिंग्स' कहते हैं। सम्यता या संस्कृति इन अधिक आध्यात्मिक आकाङ्क्षाओंसे किसी-न-किसी तरह सुसंगत होनी चाहिये। यह मानवीय विकासकी उस स्थितिका निर्देश है कि जिसमें नैतिक, सुखविषममत और बौद्धिक मूल्योंको विशिष्ट स्थान मिल गया है और प्रवृत्तिका पूर्वाक्त संनिवेशन विशद हो गया है और उपयोगितावादी आधारसे कहाँ ऊँचा है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि सम्य—सुसंस्कृत समाज ऐसे मानवोंका समूह है कि जो आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही लक्ष्योंके लिये संगठित—व्यवस्थित हो और उसकी सम्यता-संस्कारिता उतनी ही अधिक या न्यून हो गयी हो कि जितनी कम या अधिक उस संगठनद्वारा उसके सदस्योंकी आध्यात्मिक और भौतिक उन्नतिमें सहायता मिलती रहेगी।

इस परिभाषाके अनुसार मानव-समाजकी न तो निरी भौतिक उन्नति ही संस्कृति कही जा सकती है और न निरी आध्यात्मिक यानी आत्मासम्बन्धी उन्नति ही।

श्रीनेहरूजीने अपने उपर्युक्त व्याख्यानमें संस्कृतिके अङ्ग शिल्पकला, संगीत और साहित्यका संक्षेपमें विचार करनेके पश्चात् यह समस्या प्रस्तुत करते हुए कि 'क्या संस्कृति मनुष्यके आन्तरिक किसी विकासका भी सूचन करती है ?' इस प्रकार उत्तर दिया था कि—'अवश्य, यह तो होना ही चाहिये। हम दूसरोंके साथ किस प्रकार बरतें ? क्या यह संस्कृति है ?' 'अवश्य, यह भी होना चाहिये।' 'दूसरेको समझानेकी शक्ति भी क्या संस्कृति है ?' हाँ, मैं ऐसी ही धारणा रखता हूँ।' 'अपने-आपको दूसरोंको समझानेकी शक्ति भी संस्कृति है ?' हाँ, मैं मानता हूँ कि यह सब संस्कृति ही है। जो मनुष्य दूसरेका दृष्टिविन्दु नहीं समझ सकता, वह उतने अंशमें बुद्धि और संस्कृति दोनोंमें पिछड़ा हुआ है; क्योंकि बहुत ही कम व्यक्तियोंके सिवा, कोई एक व्यक्ति अपनेमें पूर्ण चतुराई और ज्ञान होनेका दावा कर ही नहीं सकता है। सामनेके पक्ष अथवा समूहके पास भी थोड़ा-सा ज्ञान, समझदारी अथवा उसके कहनेमें कुछ तथ्य हो सकता है और यदि हम अपने मनके द्वार बंद करके बैठ जायें तो केवल अपने-आपको उस प्रकारके तथ्यसे ही वञ्चित नहीं कर रहे हैं, अपितु हम अपने मनका ऐसा झुकाव भी बना रहे हैं कि जो एक संस्कारी मनुष्यके झुकावके विरुद्ध है।'

सच पूछा जाय: तो सच्ची आध्यात्मिकता भी यही है। इस सच्ची आध्यात्मिकताके अभावमें भौतिक उन्नतिके शिखरपर पहुँचे समाजोंका न केवल घोर पतन हुआ, अपितु वे संसारके इतिहाससे भी नामशेष हो गये। भारतवर्षकी आध्यात्मिक उन्नति एवं अवनतिका आज विचार करना आवश्यक नहीं; क्योंकि हम भारतवासी आज आँख मीचकर पाश्चात्य (यूरोप और अमेरिकाकी) संस्कृतिका ज्यों-का-त्यों अनुकरण करना ही देशके लिये प्रिय और श्रेय मानने लगे हैं। पाश्चात्य देशोंमें सच्ची आध्यात्मिकताके पैर कभी भी नहीं जम पाये। इनका आदर्श सदा रही थी यूनानकी एथीनियन संस्कृति, जिसके विषयमें यह कहा जाता है—

'Greeks possessed no or little tradition for either public or private morality, and even what little there was, was swept away in the intellectual ferment of the 5th century. Having no religious back-

ground to their morality, they were particularly vulnerable to this sort of attack; for when man's enquiring mind could find no deeper foundation for morality than his own unconsidered habit, he saw no *a priori* reason for disregarding the more attractive claims of his own passions. Thus self-expression and even self-gratification, became the only standards of virtue.'

अर्थात् यूनानियोंके सार्वजनिक या वैयक्तिक शीलकी कोई परम्परा नहीं थी। थोड़ी जो भी कुछ थी, वह पाँचवीं शताब्दी के बौद्धिक आन्दोलनमें बह गयी। उनके शील किसी धार्मिक पृष्ठभूमिपर आधारित नहीं थे, इसलिये वे इस प्रकारके आक्रमणके विशेषरूपसे शिकार हो गये; क्योंकि जब मानवके जिज्ञासु मनको शीलकी अपनी ही अविचारिक प्रकृतिके सिवा गहरी नींव नहीं मिली तो उसे अपनी ही वात्सनाओंके अधिक आकर्षक दावोंकी अवहेलना करनेका पूर्वज्ञानानुयायी कोई कारण नहीं दिखायी दिया। इस प्रकार स्वाभिव्यञ्जन ही नहीं, स्वतुष्टिकरण उनके शीलका एकमात्र मानक हो गया।

निम्नले ६० वर्षोंके वैज्ञानिक विकासने आज पाश्चात्य देशोंको ठीक उसी स्थितिमें ला दिया है जो आजसे २५०० वर्ष पूर्व यूनानके एथन्स और स्टार्टोमें उपस्थित थी। आजके यूरोप और अमेरिकाका भी स्वाभिव्यञ्जन और स्वतुष्टिकरण जीवनका महान् ही नहीं, एकमात्र आदर्श हो गया है। तभी तो जान-बूझकर अमेरिकाके सैनिक मानहटन (अपरनाम एंटॉमिक एनर्जी) प्रोजेक्टके अध्यक्ष मेजर जनरल ग्रोव्स (Major Gen. Groves) ने, एकदम ठंडे हृदयसे, अमेरिकाके तत्कालीन प्रेसीडेंट थ्रुट्मैनसे सन् १९४५ के अगस्तमें, उस समय जब कि जापान युद्ध बंदकर संधि की बातें राजनयिकोंद्वारा चला रहा था, हिरोशिमा और नागासाकी नगरोंपर धातक बम फेंकवानेकी आज्ञा ले ली और लाखों ही अश्विनिक नागरिकोंकी मौतके घाट उतार दिया और वहाँका वातावरण इतना विषैला एवं दूषित कर दिया कि जिसके परिणाम आज भी कई जापानी भुगत रहे हैं। इसमें उनका एकमात्र लक्ष्य संसारपर अमेरिकी धाक बैठाना था, दूसरा नहीं। परन्तु उनका अभिमान चूनेको इस कुछ ही वर्षोंमें उनसे कहीं अधिक आगे निकल गया।

विचारसरणीका ऐसा ही परिणाम है कि सदियोंसे चले आ रहे कानूनी प्रतिबन्धोंको दूर कर अनैतिक स्वच्छन्दता और उच्छृङ्खलताको वैध बना देनेकी संसारके विधि और न्यायशास्त्रीतक भी जोरोंसे प्रयास कर रहे हैं। इसे कदाचित् आजके संसारकी स्त्री-समाजका समर्थन भी प्राप्त है; क्योंकि किसीने विधि और न्यायशास्त्रियोंके ऐसे प्रस्तावके विरोधमें आवाज तक नहीं उठायी है। ऐसा लगता है कि स्त्रियोंने पुरुषोंकी भोग्य होना ही अपना परम धर्म स्वीकार कर लिया है !

नैतिक मूल्यों और नैतिक मापदण्डोंका आमूलचूल परिवर्तन

कुछ ही दिन हुए समाचारपत्रोंमें यह छपा था कि फ्रांसने स्त्रियोंके खुले वक्षःस्थलवाले वेदिंग सूटोंकी विक्रीपर प्रतिबन्ध लगा दिया कि जिनका प्रयोग अमेरिका और इंग्लैंडकी स्त्रियोंमें खूब बढ़ता जा रहा है। स्त्रीके वक्षःस्थलका आवरणरहित वेदिंग सूट (नदी-तालाब और समुद्रमें नहाते-तैरते समय पहननेकी पोशाक-विशेष) पाश्चात्य देशोंमें वेदिंग सूट पहने स्त्री और पुरुष समुद्रतटों और स्नानगृहों आदिमें ही चारों ओर घूमते-फिरते दिखायी नहीं देते हैं, अपितु इस वेशभूषामें सभी तरहके संसारव्यापी विशापनोंमें उनका प्रदर्शन भी आम बात है। भारतवर्षमें ऐसे दृश्य अबतक तो अपवाद ही थे, और पाश्चात्य विशापनदाताओंको भारतीय-पत्रोंमें विशापनके लिये इस वेशभूषामें भारतीय स्त्रियाँ नहीं मिलती थीं, इसका उन्हें खेद ही रहता था और इसी कारण वे भारतीयोंको असभ्य तक कहनेपर उतारू हो जाते थे। इस नयी प्रकारके ऐसी 'खुली छाती' के वेदिंग सूटकी कल्पना मात्रसे हम भारतीय यदि चौंक उठें तो क्या आश्चर्य है ? परन्तु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि आज हमारे नैतिक मूल्य और नैतिक मापदण्ड भी बड़ी तेजीसे बदलते जा रहे हैं। आज नग्न शिल्पकलाकृतियाँ अप्सराओंके नामसे अथवा खुजराहों आदि प्राचीन स्थानोंकी कलाओंकी अनुकृतियोंके नामसे नगरोंके राजमार्गों और विशेषतया चित्रपट-गृहोंके प्रवेशमण्डपोंमें दिखाना आम प्रथा होती जा रही है।

एक समय था जब कि पैरिस ऐसे प्रदर्शननोंमें अग्रणी कहा जाता था। परन्तु आज अग्रणी है संसारका सबसे अधिक धनी देश अमेरिका। धन और विलासकी पराकाष्ठाका, ऐसा

प्रतीत होता है कि चोली-दामनका साथ है। उसके भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीकुश्चेव जब पिछली बार अमेरिका गये तो उन्होंने अमेरिकाके नग्न प्रदर्शनोंकी तीव्र टीका की थी। पर धन और विलासमें मदहोश क्या कभी ऐसी टीकाकी परवा करते हैं जो अमेरिका करता। हम भारतीय कदाचित् लजायें, परन्तु अमेरिकाके माता-पिता संध्यासमय चङ्क्रमण या तफ्तीको जा रही अपनी युवती अविवाहित पुत्रीको चितानेके लिये न तो यह पूछते लजाते हैं कि 'बेटी ! संततिनियन्त्रणके साधन साथमें लेना तो नहीं भूली हो ना ?' और न बेटी ही यह उत्तर देते लजाती है कि 'ममी ! मैंने वैज्ञानिक साधन सब साथमें ले लिये हैं।' बेरोकटोक यौनविलास अमेरिकाकी सभी अवस्थाओंकी स्त्रियोंके लिये आजकी समाजका मानो सामान्य नियम हो गया है।

यह स्वच्छन्दता भी सुसभ्य सुसंस्कृत अमेरिका-जैसे देशोंको अपर्याप्त प्रतीत हो रही है, इसीलिये संसारके कानूनदौ और न्यायशास्त्री पूर्ण निर्वन्धमुक्त यौनाचारका न केवल समर्थन करनेको ही उद्यत हो गये हैं, अपितु प्रत्येक देशको ऐसे प्रतिबन्धक कानून सर्वथा ही उठा लेनेको, और यदि यह सम्भव न हो तो, उन्हें पर्याप्त शिथिल करने अथवा अमलमें नहीं लानेकी सिफारिश करते हैं, जैसा कि जुलाई १९६४ में दी हेग (हालैंड) में दण्डविधानकी नवम अन्ताराष्ट्रिय परिपदके स्वीकृत एक प्रस्तावसे प्रतीत होता है । इस परिपदमें ५४ राष्ट्रोंके ५०० न्यायशास्त्रियों और कानूनदौओंने भाग लिया था । बहुत सम्भव है कि भारतवर्षके प्रतिनिधि भी उसमें हों; क्योंकि सभी अन्ताराष्ट्रिय परिपदोंमें भाग लेनेको आजकल भारतवर्ष सदा ही आतुर रहता है । इन प्रतिनिधियोंने यौन अपराधोंके लिये दिये जानेवाले दण्डको, जितना भी हो सके हलका किये जानेकी आवश्यकता-पर पूरा-पूरा बल दिया और अन्तमें सर्वानुमतिसे चार विभागवाला निम्न प्रस्ताव स्वीकृत किया—

(१) यौन-आचार और उसके द्वारा कुटुम्बके प्रति होनेवाले अपराधोंके विषयमें यह परिपद मानता है कि व्यभिचार और ऐसे कामोंको फौजदारी अपराध नहीं मानना चाहिये और एक ही जातिके दो वयस्क व्यक्तियोंमें परस्परकी सम्मतिसे होनेवाले यौन-व्यवहारके विरुद्ध फौजदारी कानूनद्वारा प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिये ।

(२) कामावेशप्रेरक बोमत्सताको उत्तेजन नहीं मिलता
हो और सामाजिक स्वास्थ्यके संरक्षणके नियमोंका भङ्ग नहीं

होता हो, इस प्रकारके संतति-नियमके साहित्यका वितरण अथवा उसके साधनोंके प्रचारको अदालतमें विचारणीय अपराध नहीं माना जाना चाहिये ।

(३) जिन देशोंमें गर्भपातको अपराध माना जाता है, वहाँ विधिविहित गर्भपात करनेकी क्रियाको अपराधके दायरेमेंसे बाहर कर दिया जाना चाहिये ।

(४) जहाँ स्त्री अथवा पुरुषकी सम्मति हो, वैसी दशामें कृत्रिम गर्भाधान करानेकी क्रियाको अवैध नहीं माना जाना चाहिये ।

हेग अन्ताराष्ट्रिय परिषद्का यह प्रस्ताव बर्ता दे रहा है कि संसार किन नये मूल्यों और नये मापदण्डों एवं व्यवहारोंकी ओर तेजीसे प्रगति कर रहा है। एक समय था कि जब सारा ईसाई संसार और राज्य बहुपत्नीत्वके भारतीय रिवाजको परम हेय मानता था और अमेरिकामें जब मारमन लोगोंने बहुपत्नीत्व अपने समाजमें प्रचलित किया तो सारा ही अमेरिका उसके विरोधमें उठ खड़ा हुआ था और अन्तमें इस तीव्र विरोधके सामने मारमनोंको सिर झुका देना ही पड़ा था। क्या बहुविवाह आजके स्वीकृत हो रहे हैं ? परन्तु जैसा कि विवाहवाह्य यौनसम्बन्धसे बुरा था या है ? परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संस्कृति और नैतिकताके मापदण्ड संसारमें सदा ही बदलते रहे और रहते हैं। यही नहीं, इसका एकमात्र निर्णायक होता है धनीवर्ग, जो अपनेको एकदम प्रतिबन्धमुक्त रखना ही जीवनका परम-चरम लक्ष्य मानता रहा है।

मानता रहा है ।

देखा जाय तो हमारे भारतवर्षमें भी समृद्धि-वृद्धिके साथ-साथ आज यही विचारधारा जोर पकड़ती जा रही है । हालाँकि यदा-कदा तथाकथित अश्लील पोस्टरों, अश्लील शिल्पाकृतियोंके प्रदर्शनोंके विरुद्ध भी आन्दोलन चलते हैं । कुछ ही दिनों पूर्व बम्बईके नूतन बने 'अप्सरा' नामके चित्रप्रदर्शक-गृहकी बाहरी दीवालपर गोलमें प्रदर्शित किये उन्नत पर खुले वक्षःस्थलवाली अप्सराके शिल्पके विरुद्ध आन्दोलन चला था तो अभी 'चित्रलेखा' नामके रंगीन चित्रपट प्रदर्शित कर रहे 'आपेरा हाउस' नामके प्रदर्शनगृहके प्रवेशमण्डपमें खुजराहो—शिल्पके नमूनोंकी कृतियोंका प्रदर्शन भी आन्दोलनका विषय बन गया था । ऐसी कृतियाँ संसारके शिल्पकारोंने बनायी ही क्यों और आज भी बनाते ही क्यों ? इसका न पहले कभी विचार किया और न आज ही कोई करता है । आश्चर्य तो यह है कि भारतवर्ष—जैसे देशमें ही ऐसे

तथाकथित अश्लील शिल्पवाले स्थानतक पवित्र तीर्थ घोषित हो गये हैं, जहाँ तीर्थ करने लाखों ही देशवासी प्रतिवर्ष जाते हैं। इसके मनीषी टालस्टाय ही इनके एकमात्र अपवाद हैं, जिन्होंने ऐसे शिल्पियोंको कलाविद् नहीं, कहा है अर्थदास और उन शिल्पियोंको लाखों रुपये खर्चकर बनवाने और खरीदनेवालोंको सबसे अधिक धिक्कारा है, जिन्होंने येनकेन प्रकारेण अपने कमाये हुए धनद्वारा शिल्पके इस व्यविचारको जन्म और प्रोत्साहन दिया और देते हैं।

पर केवल धनके तो मनीषियोंने तीन ही मार्ग बताये हैं और वे हैं दान, भोग और नाश। नाश किसीसे नहीं रोका जा सकता है। पर नाश हो उससे पहले मुक्तहस्त दान भी बिरले ही कर पाते हैं। इस तरह धनके लिये तीसरा मार्ग भोग ही रह जाता है, जिसकी मनुष्यमात्रमें स्वाभाविक इच्छा पायी जाती है। भोगका ही तो पर्याय या दूसरा नाम 'विलास' है, जिसकी न कोई सीमा है और न एक राजमार्ग ही।

भारतवर्षकी आज किस ओर गति है ?

सरकारकी ओरसे राष्ट्रीय स्तरपर संततिनियमन—नियन्त्रणका आज न केवल हर प्रकारसे प्रचार ही किया जा रहा है अपितु उसके ज़ाधन भी सुप्त दिये जानेकी योजना काममें आ रही है। हमारे दूर पूर्वके पड़ोसी जापान देशने तो इसी लक्ष्यसे गर्भपातको अपराधमुक्त घोषित कर ही दिया है। भारतीय संस्कृतिके सातत्यके संरक्षकोंकी आज आवाज दिनोंदिन इसलिये अरुणरोदन होती जा रही है कि ब्रह्मचर्यको अप्राकृतिक और अनैतिक तक भी मान लिया गया है। नैतिकता बड़ी मानी जाने लगी है कि जो व्यक्तिको समयके साथ बदलनेका अवसर दे और उसे अधिक सुविधाएँ और स्वतन्त्रताएँ दे। इसलिये वे नियम जो सहूलियतोंकी जगह ज्यादा कठिनाइयाँ और परेशानियाँ पैदा करते हैं, स्वयमेव अनैतिक हैं और उन्हें न मानना ही नैतिकता है। यदि कोई विवाहिता या अविवाहिता स्त्री किसी भी परिस्थितिमें, गर्भको न चाहे तो उसे पूरा हक है कि उसे उसके लिये बाध्य नहीं किया जाय। ऐसे नियम, जो उसके इस हकमें बाधाएँ उपस्थित करते हैं, सर्वथा असामाजिक, अनैतिक और अमानवीय हैं। (सरिता, अक्टूबर २३, दिसम्बर १५, १९६४, पृष्ठ ७५) आश्चर्य यही है कि स्त्रीके इस स्वातन्त्र्यका पोषक और समर्थक अधिकांशतः

पुरुष है, जिसको कामवासनाकी वृत्तिके दुष्परिणामका गर्भ-रूपमें भार स्त्रीको ही वहन करना पड़ता है; पुरुषको नहीं। पुरुष मानो अपने लिये नहीं, अपितु स्त्रीपर उपकार करनेके लिये ही उससे व्यविचार करनेको बाध्य होता है और स्त्रीके दुःखसे दुःखित होकर वह उसे सब तरहसे मुक्त करा देनेको अत्यन्त आतुर है। स्त्रीपर लगे प्रतिबन्धोंके हट जानेका अधिक-से-अधिक लाभ अपनी स्वच्छन्द नीच वृत्तिको वृत्त करनेमें वह उठा पायेगा, यह स्वीकार करनेका साहस उसमें नहीं है। अपने-आपको वह निर्दोष मानता और मनवाना चाहता है। यह कैसी विडम्बना आजकी सभ्यता एवं संस्कृतिकी है ?

संसारकी बात करनेसे क्या लाभ यदि हम अपने देशकी गति-विधिकी ओरसे ही आँखें मूँद लेंगे ? हमें जानना चाहिये कि गर्भपातको कुछ शर्तोंपर वैध करानेकी माँग आज देशमें जोर पकड़ती जा रही है। अभी यह माँग विवाहित स्त्रीके लिये है, यही नहीं, अपितु इसकी माँग करनेवाले पति-पत्नीकी सहमतिसे गर्भपात करना-कराना ही वैध कराना चाहते हैं। जैसे कि मैसूर राज्यके स्वास्थ्यमन्त्री श्रीनागप्पा अलवाने हालहीके परिवारनियोजन सप्ताहोंके अवसरपर पत्र-प्रतिनिधियोंकी कान्फ्रेंसमें बोलते हुए बंगलोरमें कहा था कि—यद्यपि मैसूर-सरकारने केन्द्र-सरकारकी इस विषयकी पूछताछका अभीतक कोई भी उत्तर नहीं दिया है; परंतु मेरी अपनी निजी राय तो यह है कि यदि हम अनधिकारित गर्भपातसे होनेवाली हानियोंसे बचना चाहते हैं तो हमें इस शर्तपर गर्भपातको वैध अधिकारित कर ही देना चाहिये कि जब पति-पत्नी दोनों ही इसके लिये सम्मत हों तो वह गर्भाधानके तीन महीनेके भीतर-भीतर किया या करा लिया जाय।

इस वक्तव्यमें स्वास्थ्यमन्त्रीकी स्पष्ट स्वीकृति यह है कि देशमें गर्भपातोंकी संख्या पूरी वृद्धिपर है, हालाँकि यह एक दण्डनीय अपराध फौजदारी कानूनके अनुसार ही है, चाहे गर्भपात करने और करानेवाले अदण्डित भले ही किसी भी कारणसे रह जाते हों। इस विषयमें कुछ ही महीनों पूर्व प्रकाशित नैतिक और सामाजिक स्वास्थ्यमण्डल, बिहार शाखाके तत्त्वावधानमें, पटना नगरके प्रमुख विद्वान वैज्ञानिक (पैथोलोजिस्ट) डाक्टर श्रीपूर्णन्दुनारायणसिंहके, जो बिहार विधान सभाके सदस्य भी हैं, द्वारा किये राज्यव्यापी

सर्वेक्षणकी प्रतिवेदना पठनीय, मननीय और विचारणीय है। इसका सार कलकत्तेके अंग्रेजी दैनिक 'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' के ता० १ सितम्बर १९६४ के अङ्कमें इस पत्रके पटना कार्यालयने प्रकाशित कराया था। इसका सार संक्षेपमें इन शब्दोंमें दिया था—

कम-से-कम चार दर्जन गर्भपातके मामले पटना नगरके विभिन्न निदानशालाओं (क्लिनिकों) में प्रतिदिन परिचालित होते हैं और विहारके स्कूलों एवं महाविद्यालयोंकी प्रति सौ विद्यार्थिनियोंमेंसे चार विवाहपूर्व यौनसम्बन्ध करनेवाली पायी गयी हैं और इनमेंसे अनेक अविवाहित माताएँ भी बनी हैं। यह सर्वेक्षण वहाँ 'अनैतिक व्यापारदमनविधान' (Suppression of Immoral Traffic Act) के प्रचलित होनेके आठ वर्ष बाद किया गया था। इस अनैतिक व्यापारवृद्धिके कारणोंपर उस सर्वेक्षणमें इस प्रकार कहा गया था—

"Cheap novels, circulation of secret pronographic literatures and gradual change in social habits are found to be responsible for these social evils.

Fallen women thrown out of profession after introduction of the Act were found responsible in some cases for alluring young girls.

The survey also found poverty another reason for increased sex offences in schools and colleges.

Another interesting point which the survey has high-lighted is that agents are 'not operating now in red-light areas but everywhere and anywhere. As soon as the sun goes down, they spread their net and victimize girls.' Normally no girl gets into bad habits on her own, the survey adds.

The survey found duller boys and girls to be more susceptible to 'invitations' than comparatively higher ones.

It reveals that middle-income group boys and girls are found indulging in

these vices more than other groups. Modern outlook, economic conditions and sophisticated ways of life are mostly responsible for this. Although public opinion held girls responsible for sins, the survey says, boys, more than girls, are responsible and they are real culprits.

The survey suggests sex education in schools and colleges might have some salutary effects on growing vices among middle class families."

'वायलेटी सस्ते उपन्यास, गुप्त अश्लील साहित्यका प्रचार और सामाजिक प्रकृतियोंमें शनैः-शनैः परिवर्तन' इन सामाजिक बुराइयोंके कारण पाये गये।

अनैतिक-व्यापार-दमन-विधानके प्रचलनके बाद इस व्यवसायसे महत्त्वपूर्ण हुई पतिताएँ भी नवयुवतियोंको फुसलानेकी कुछ मामलोंमें उत्तरदायी पायी गयीं।

सर्वेक्षणने स्कूलों और कॉलेजोंमें यौन-अपराधोंकी वृद्धि का कारण गरीबी भी पाया।

सर्वेक्षण जिस महत्त्वकी एक और बातकी ओर ध्यान खींचता है, वह यह है कि 'अब दलाल लालबत्तीवाले क्षेत्रोंमें काम नहीं करते, अपितु यत्र-तत्र सर्वत्र घूमते हैं।' ज्यों ही सूर्यास्त होता है, वे अपना जाल फैला देते हैं और युवतियोंको फँसा लेते हैं। साधारणतया कोई युवती स्वतः इस हीन मार्गपर नहीं चलती है, सर्वेक्षण यह भी कहता है।

मन्दबुद्धि युवक-युवतियाँ ऐसे निमन्त्रणोंकी आसान शिकार होती हैं और अपेक्षाकृत अच्छी बुद्धिवाले कम, यह भी सर्वेक्षणमें पाया गया है।

मध्य आयके युवक-युवतियाँ इन ऐश्वर्यकी अन्य आय समूहोंके युवक-युवतियोंकी अपेक्षा अधिक रसी हैं। आधुनिक दृष्टिकोण, आर्थिक स्थिति और तर्कप्रधान जीवनरीतियाँ इस स्थितिके लिये अधिक उत्तरदायी हैं। यद्यपि जनमत इसके लिये युवतियोंको ही जिम्मेदार ठहराता है, परंतु सर्वेक्षणके अनुसार युवक ही युवतियोंकी अपेक्षा अधिक उत्तरदायी हैं और वे ही यथार्थ अपराधी—दोषी हैं।

सर्वेक्षणकी सूचना है कि स्कूलों और कॉलेजोंमें

यौनशिक्षाका प्रचार मध्यवित्त परिवारोंमें बढ़ रही—इस बुराईपर कुछ स्वास्थ्य-हितकर प्रभाव डाल सकता है।

यदि ऐसा सर्वेक्षण प्रत्येक प्रान्त या राज्यके लिये किया जाय तो हमें देशके नैतिक ह्रास और उसकी मंद या तीव्र गतिका ठीक-ठीक पता चल सकता है। हम श्रुतुर्गुर्गकी तरह धूलमें सिर छुपाकर स्थितिको देखने अथवा सच माननेसे इन्कार करें, उससे तो स्थिति बिगड़ती ही जायगी। आज हमारा राजनैतिक ध्येय जनतान्त्रिक समाजवाद है, जिसमें हमारी नैतिक स्थिति बिगड़ते जानेसे तभी बच सकती है कि हमारी सरकारें ही नहीं, अपितु हम सब इस प्रयत्नमें भी रहें कि देशका स्थायी भविष्य आर्थिक, राज-नैतिक और सामाजिकके साथ-साथ नैतिक उत्थानपर निर्भर करता है। माननीय श्रीप्रकाशजीकी समितिने देशमें फिरसे नैतिक और धार्मिक शिक्षाके शीघ्रातिशीघ्र आयोजनकी सिफारिश की थी, परंतु उसे ताकमें रखकर भुला दिया गया। आज समय आ गया है कि उस प्रतिवेदनपर सच्चे दिलसे ही नहीं, अपितु पूरी शक्तिसे काम किया जाय*। हम पाठकोंका ध्यान फरवरी १९६४ की 'कादम्बिनी'में प्रकाशित सुश्री सरस्वती चौधरीके लेख 'हमें लज्जा आनी चाहिये' की ओर आकर्षित करते हैं, जिसमें नाइजीरियामें उत्साह और मुँहमाँगे मूल्यपर निमन्त्रित किये गये शिक्षित भारतीय किस नीतिसे व्यवहार कर रहे हैं—उसका सच्चा चित्र खींचते हुए सुश्री सरस्वती चौधरीको अपने

लेखका उपर्युक्त शीर्षक देनेको बाध्य होना पड़ा है।

यह सत्य है कि समृद्धि और नैतिकताका चोली दामनका परंतु उलटा साथ है। समृद्धि जैसे बढ़ती है, नैतिकता उससे अधिक तेजीके साथ गिरती है। संसारका इतिहास डंकेकी चोट कहता है कि संसारकी नागरिक सम्यताओंका पतन पूर्ण समृद्धि भोगते हुए भी इस नैतिक ह्रासके कारण हो गया जब कि गाँव संसारमें आज भी जीवित हैं। हमारे गाँव इन पिछले १७ वर्षोंमें जितने उजड़े और नगर जितने बसे, उतने शायद पिछले दो हजार वर्षोंमें भी नहीं हुआ होगा। महात्मा गाँधीजी हमारे रामराज्यके लिये ग्रामोंको समृद्ध बनाना चाहते थे, जबकि हमारे प्रधान मन्त्री नेहरू नगरोंके अभिभूत थे। नेहरूजीको उनकी भूल समझानेका समय आया, उससे पहले ही गाँधीजी परलोकवासी हो गये। नेहरूजीने इन सत्रह वर्षोंमें जो कुछ किया, वह सब हमारे सामने है। यहीं नहीं, पर उनके विशिष्ट व्यक्तित्वके सामने दबी रही बुराइयाँ भी आज प्रतिदिन तेजीसे एवं स्पष्ट रूपमें उभर रही हैं। हम अब चेत जायँ—इसीमें हमारा कल्याण है। नहीं तो, 'अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत' वाली कहावत ही हमपर चरितार्थ होगी। हमें हमारी भारतीय नाँवपर ही समृद्ध होना है। पाश्चात्त्योंसे हम सीखें अवश्य ही, परन्तु जो सीखें उसे अपने भारतीय रूपमें। यदि नहीं परिणमन करेंगे तो 'कौआ चला हंसकी चाल' वाली हमारी दशा हो जायगी।

* वड़े ही दुःखका विषय है कि धर्मप्राण, सदाचारपरायण भारत आज बड़ी तेजीके साथ अधर्म, अनाचार और नैतिक पतनकी ओर अग्रसर हो रहा है। हमारे शिक्षा-मन्दिर (विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, विद्यालय और उनमें दी जानेवाली सहशिक्षा आदि) इस विनाशकी अक्षिमें ईंधन झोंकनेका काम कर रहे हैं और अवाञ्छनीय साहित्य तथा सिनेमा इतने जोरकी आँधी है कि वह इस विनाशकी आगको उत्तरोत्तर जोरोंसे भड़का रही है। हम अपने पवित्रतम प्राचीन आचार, शिक्षा और संस्कृतिकी ओरसे सर्वथा उदासीन होते जा रहे हैं !

हमारी भारतीय संस्कृतिमें 'अर्थ' और 'काम'का विरोध नहीं है; इसीसे हमारे 'पुरुषार्थ चतुष्टय'में—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारोंका निर्देश है। अवश्य ही वे 'अर्थ' और 'काम' होने चाहिये 'धर्म'के द्वारा नियन्त्रित और उनका लक्ष्य होना चाहिये—'मोक्ष'। पुरुषार्थचतुष्टयमेंसे यदि 'धर्म' और 'मोक्ष'को निकाल दिया जाय तो केवल 'अर्थ' और 'काम' बच रहते हैं और केवल अर्थ और 'काम' जब जीवनके साध्य-साधन बन जाते हैं, तब मनुष्य असुरभावापन्न होकर पतित हो जाता है। आज यही हो रहा है। यह प्रवाद कानूनोंसे नहीं रुकेगा। यह रुकेगा—बुराई और मल्लका स्पष्ट रूप तथा परिणाम बतलानेवाली 'धर्म-शिक्षा'से। अतः देशके मनीषियोंको दुरंत सावधान होकर इस बहुमुखी पतनके प्रवाहको रोकना चाहिये।

समाजव्यापी पतनका निवारण

(लेखक—भीषमवीरजी)

एक अमेरिकन लेखकने अपने लेखमें संयुक्तराज्योंके विद्यालयों एवं महाविद्यालयोंके विषयमें कई ऐसी बातें लिखी हैं जिनको वहाँके लड़के-लड़कियाँ अनुकूल नहीं समझेंगे—कड़वी समझेंगे और जो बातें सत्यपर निर्भर करती हैं, वे कुछ कड़वी प्रतीत होती ही हैं। लेखकने आरम्भमें ही एक दिलचस्प उदाहरण दिया है; वह लिखता है, 'अमेरिकाके ऑरिगन-राज्यमें चार वर्ष पूर्व हाईस्कूलके एक लड़केने एक निबन्ध लिखा, जिसके कारण उसका नाम पहले नंबरपर आया और उसे दो सौ डालर इनाम मिला। निबन्धका विषय था—'ईमानदारी मेरे लिये कितने महत्वका सिद्धान्त है।' अबकी इसी लड़केने जब परीक्षा दी, तब यह अपने पास बैठे लड़केकी उत्तर-पुस्तकसे नकल करता पकड़ा गया। दण्ड-स्वरूप उसका नाम काटकर उसे स्कूलसे निकाल दिया गया। उस लड़केसे पूछा गया—'तूने ऐसा क्यों किया?' उसने यह उत्तर देते हुए किसी प्रकारकी लज्जाका अनुभव नहीं किया कि 'मैं' अभाग्य हूँ जो पकड़ा गया, नहीं तो स्कूल और कालेजका प्रत्येक लड़का बेईमानी करता है। फिर कौन-सा लड़का है, जिसे बेईमानी नहीं करनी पड़ती?'

अन्तिम दो वाक्योंमें लगाये गये दो इल्जाम बहुत संगीन हैं। पहला—प्रत्येक लड़का बेईमानी करता है। दूसरा—कौन-सा लड़का है, जिसे बेईमानी नहीं करनी पड़ती? इन चौदह शब्दोंका विस्लेषण किया जाय तो कितनी ही बातें हमारे समक्ष आती हैं। उनमेंसे प्रमुख यह है कि स्कूलों-कालेजोंवाले बेईमानीको बेईमानी नहीं समझते तभी तो ऐसा करते हुए लज्जाका अनुभव नहीं करते।

कुछ समय हुआ एक वृद्ध वकीलसे मैंने कहा—'बाबूजी, मुझे समझ नहीं आती कि आदमी छूट क्यों बोलता है।' वे वकील नगरकी बार एसोसियेशनके प्रधान थे। स्थानीय महाविद्यालयकी प्रबन्ध-समितिके प्रधान थे। अच्छे धनवान् थे। प्रतिष्ठा भी खूब थी। कई एक सामाजिक संस्थाओंके साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने मुझसे सवाल किया—'प्रोफेसर साहब, मुझे समझ नहीं आती कि आदमी सच क्यों बोलता है। मैं सुबहसे लेकर शामतक छूट बोलता हूँ।' थोड़ी देर सोचनेके पश्चात् मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा

कि यदि इस सज्जनके लड़के-लड़कियाँ छूट बोलते हैं तो किसीको हैरान नहीं होना चाहिये। क्यों? इसलिये कि वे सब पिताके बनाये छूटके वातावरणमें पलते हैं। और यदि इन लड़के-लड़कियोंकी माता आर्यसमाजके साप्ताहिक सत्सङ्गमें जाती हैं तो वह अपने आपको एक प्रकारसे धोखा देती हैं या फिर इतनी सरल हैं कि उन्हें अपने पतिके चरित्रका कुछ पता ही नहीं।

एक सज्जन एक स्थानमें विश्वविद्यालयकी परीक्षाओंके सुपरिण्टेंडेंट नियुक्त हुए। उन्होंने बताया—'मैंने कई लड़कोंको परीक्षाभवनमें दूसरीकी नकल करते हुए पकड़ा। परंतु मुझे उस समय बहुत आश्चर्य एवं खेद हुआ, जब एक युवती भी ऐसा काम करते हुए, रँगें हाथों पकड़ी गयी। उसने अपनी सुथनीकी तहोंमें उन विभिन्न प्रश्नोंके उत्तर लिख रखे थे जिनके आनेकी उसे आशा थी। लड़कीके पकड़े जानेके पश्चात् पुलिसने उसके घरसे दूसरी सुथनी मँगवाई और उत्तरोंवाली सुथनी उतरवाकर ऊपर विश्वविद्यालयके कार्यालयमें भेज दी गयी ताकि उसे प्रमाण माना जाय।'

“एक अन्य अनुभव और भी अधिक मनोरंजक तथा दुःखद है। परीक्षाहालमें एक सौसे अधिक परीक्षार्थी लड़के-लड़कियाँ बैठे थे। बायें कोनेमें बैठे एक लड़केपर एक दिन मेरी नजर पड़ी तो उसपर संदेह हुआ। मैंने उसे वहाँसे उठवाकर अपनी मेजके सामनेकी पक्तिमें उसकी कुर्सी लगावा दी। थोड़ी देरके पश्चात् उसने वहाँ भी अपनी गुप्त कार्यवाही आरम्भ कर दी। तत्पश्चात् वह शौचालयमें गया। मैंने एक निरीक्षकसे कहा कि इस लड़केको शौचालय तब जाने दिया जाय जब कागज तो नहीं रक्खा है। लड़केको यह बात मालूम न होने पायी और न उसे संदेह हुआ कि उसपर किसीकी दृष्टि है।

“वह शौचालयमें गया और कुछ कागज दरवाजेके एक कोनेमें ढूँस आया। स्वयं मैंने जाकर शौचालयकी तलाशी ली और वे कागज, जो संख्यामें तीन थे, पकड़ लिये। सभी हाथसे लिखे थे। इनको लेकर मैं परीक्षा-भवनमें सुपरिण्टेंडेंटके मञ्चपर आकर अपनी कुर्सीपर आ बैठा। थोड़ी देर उनका अध्ययन किया। मैंने देखा कि लेखकने तीन अक्षर विशेष ढंगसे लिखे हैं। अब मैंने उस लड़केके निकट जाकर

उसकी उत्तर-पुस्तकपरके इन्हीं तीन अधारोंका शौचालयके कागजोंके उन अधारोंसे मुकाबला किया। वे एक दूसरोंके साथ मिलते थे ! अब मेरे कहनेपर उस लड़केको परीक्षा-भवनसे बाहर ले जाया गया।

“उससे पूछा गया—‘क्या ये तीन कागज आपके हैं ?’
‘जी मेरे हैं।’

‘क्या आप इनको वाथरूममें रख आये थे ?’

‘जी नहीं।’

‘तब ये वहाँ कैसे पहुँच गये ?’

‘सम्भव है किसीने बाहर पड़ी मेरी काँपीसे फाड़कर पड़ लिये हों और वह उन्हें वादमें वाथरूममें रख आया हो।’

‘मैंने उसे छोड़ दिया—‘जाइये, आप अपनी सीटपर बैठकर अपनी उत्तर-पुस्तकपर प्रश्नोंके उत्तर लिखिये।’ कुछ देर बाद फिर संदेह हुआ। उसकी गति-विधिसे ऐसा प्रतीत हुआ कि अभी इसके पास कुछ और भी है। अब मैं उसे भवनसे बाहर ले गया। वहाँ पुलिसका सिपाही ड्यूटीपर खड़ा ही था। उसके सामने उस लड़केसे कहा—‘बोल, तेरे पास कोई अनुचित कागज तो नहीं है ?’

‘न जी’ उसने उत्तर दिया। ‘मैं जानता हूँ कि जब हम परीक्षा आरम्भ होनेसे पूर्व भवनमें प्रविष्ट होनेवाले थे, तब आपने सबसे यह कहा था कि अपनी-अपनी जेबोंको टटोलकर देख लें कि किसी प्रकारका कोई कागज तो नहीं रह गया। तब मैंने भी अपनी जेबें देखी थीं और कोई कागज न रहने दिया था।’

‘बहुत अच्छा। मेरे मुँहसे निकला। मैंने पुलिसके सिपाहीकी ओर देखकर कहा—‘इसकी जामा-तलाशी लीजिये’ कोई कपड़ा न छोड़िये।’

‘निपाहीने लड़केका कोट उतरवाया। साथ ही जूते उतरवाये। जूतोंमेंसे छरी हुई पुस्तकके कुछ पन्ने निकले। एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, पूरे दस !

‘अब लड़केके हाथके तोते उड़ गये। ‘क्षमा कीजिये’ स्वयं उसने कहा—‘गतवर्ष मैं फेल हो गया था।’

‘तो अबकी क्या पास हो जाओगे ?’ मेरे मुँहसे यह कटाक्ष निकल गया ! ‘नुम्हारी ये कस्तूरी तो तुम्हें कालेजसे भी निकलवा देंगी।’

‘वह रोने लगा, हाथ मलने लगा। मेरे दोनों पाँव पकड़ लिये उसने। उसके हाथोंसे अपने पैर छुड़वाकर मैं पीछे हट गया।

‘मैं मारा जाऊँगा सुपरिंटेंडेंट साहब, अबकी क्षमा कर दें’ आँसुओंकी नदी बहाते हुए उसने कहा और कोटकी लाइनिंगसे चार छपे हुए कागज और निकाल दिये।

‘और भी हैं क्या ?’ मैंने पूछा ! परंतु वह चुप रहा।

‘इसके कपड़े उतार दीजिये, मैंने सिपाहीको आदेश दिया।

‘सिपाहीने वैसा ही किया और तलाशी लेने लगा। उसका दायाँ हाथ लड़केकी गुदाके पास जा पहुँचा तो वहाँसे कागज निकलते चले आये। वे संख्यामें बारह थे। सभी छपे हुए। इकनॉमिक्स (अर्थशास्त्र) की हिंदी पुस्तकके थे।

‘अब उस लड़केकी मानसिक दशाका अनुमान कोई भी कर सकता है। काटो तो खून नहीं। पाँव पड़ने लगा। मेरे जूते तो वह चाट ही गया। पता नहीं उसकी आँखोंमें इतना पानी कहाँसे आया। वह रोता ही चला गया। मैंने समझा कि यह सचमुच ही प्रायश्चित्त कर रहा है। परंतु मेरा यह विचार भ्रममूलक निकला। जब अन्य अनेक प्राध्यापकोंके प्रार्थना करनेपर मैंने उसे क्षमा करनेका विचार प्रकट किया, तब उसने उस दिन परीक्षा समाप्त होनेपर भवनसे बाहर आकर योंशेखी बवारी ‘देखा, बेटेको कैसा चकमा दिया !’

ये उदाहरण क्या बतलाते हैं ? यही कि हमारा नैतिक चरित्र बहुत ही पतित हो चुका है। अमेरिका बहुत ज्यादा अमीर है। सम्भवतः वह धन-दौलतके बूतेपर दूसरे राष्ट्रोंका मुकाबला कर सकता है। परंतु भारत तो बहुत निर्धन है। यह निर्धन राष्ट्र अपनी वर्तमान स्थितिमें दूसरे राष्ट्रोंका मुकाबला नहीं कर सकता। भारतपर चीनके आक्रमणके समय हमने देखा कि किस प्रकार कुछ बड़े अधिकारियोंने तेजपुरमें देशको धोखा दिया। हम इस बातको भी भुला नहीं सकते कि एक वायुयान-चालकने युद्धक्षेत्रमें लड़ रहे सैनिकोंको विभिन्न प्रकारकी सामग्री पहुँचानेके बजाय उसे कलकत्ताके बाजारमें जा बेचा।

प्रश्न होता है, क्या स्कूलों-कालेजोंके लड़के ही इस बेईमानीके लिये जिम्मेदार हैं ? जरा गहन विचार करनेपर मालूम होगा कि नैतिक चरित्रके इस पतनके लिये माता-पिता, स्कूलोंके अध्यापक, कालेजोंके प्राध्यापक, सरकार और सरकारी मन्त्री, अधिकारी सभी—उत्तरदायी हैं। इसके अतिरिक्त समाजके सभी विभिन्न अङ्गों—व्यापारी, कारखाना-दार, सरकारी मुलाजिम, वकील, डाक्टर, नाई, धोबी, मोची, कुँजड़े आदि—सभीका हाथ इस गिरावटके पैदा करनेमें

है। पत्रकार इससे बच नहीं सकता। उसे भी अपनी लाटके नीचे लाठी घुमाकर देखना चाहिये।

इस अवस्थाको देखकर एक हिंदुत्व-प्रेमी राष्ट्रभक्तने मुझसे कहा—‘कभी-कभी तो इन बातोंसे इतनी अन्तर्वेदना होती है कि समाजको छोड़कर भाग जानेको जी चाहता है। परंतु फिर अपने आपसे प्रश्न होता है, भागकर जाओगे भी तो कहाँ?’

इस समाजव्यापी पतनका जरा बारीकीसे अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि इसके लिये हम सभी उत्तरदायी हैं।

इसलिये इस विलक्षण रोगको दूर करनेका उपाय सभीके हाथमें है। किसी एकके प्रायश्चित्त करनेसे यह कार्य नहीं हो सकता; परंतु सभी लोग तो इस ओर ध्यान ही नहीं देते। वे कहते हैं—‘हमें इस विषयमें चिन्तन करनेकी फुरसत ही नहीं है।’ तब यह गुत्थी कैसे सुलझे? इसका एक उपाय यह है कि हिंदुत्व-प्रेमी सभी भक्त अपने-अपने स्थानपर सच्चे दिलसे इसका निवारण अपने सजीव उदाहरणसे करें। हम दूसरोंके सामने अपनी शुद्धता-विमलता एवं ईमानदारीका उदाहरण बिना विज्ञापनवाजी या अहंकारके रख सकते हैं।

मुसकानकी मधुरता

(रचयिता—स्वामीजी श्रीजयरामदेवजी)

(१)

जाने किस कारणसे प्रियवर !
होता तुमसे अनुराग नहीं।
प्रत्यक्ष दुसह दुख पाकर भी,
होता विषयोंका त्याग नहीं ॥

(२)

क्षणभंगुर जीवनका दीपक,
क्या जाने किस क्षण बुझ जाये।
यह जान-जान अनजान वनूँ,
इस भ्रमकी कौन थाह पाये ॥

(३)

यह मेरा ही भ्रम है, अथवा
यह दोष प्रबल है मायाका।
उठ-उठकर मैं गिर जाता हूँ,
विश्वास न जगमें छायाका ॥

(४)

जाने कितने जीवन मेरे,
मिलनोत्कण्डामें वीत गये।
मोहादिक दैत्योंसे लड़कर
मैं हार गया, वे जीत गये ॥

(५)

प्राणोंमें है न प्रणय-पीड़ा,
आँखोंमें अश्रु नहीं आते।
मनमें न मिलनका जोश उठे,
हैं अङ्ग न आतुर अकुलाते ॥

(६)

कुछ प्यास लगी थी, पर कच्ची
शीशेकी प्याली फूट गयी।
ऊपरसे यों पत्थर बरसे,
आशाकी डाली दूढ़ गयी ॥

(७)

बिन भक्ति कृपा करना सीखो,
बिन दैन्य दया कछु दरसा दो।
बिन विनती भी घनश्याम ! कभी,
चातकपर अमृत बरसा दो ॥

(८)

हे हृदयेश्वर ! दर्शन देकर,
तन-मनमें प्रेम-सुधा भर दो।
अपनी मुसकान-मधुरतासे,
नीरस जीवन रसमय कर दो ॥

महानताका रहस्य

मेरे प्रभु !

रह-रहकर मेरे मनमें महान् होनेकी हुड़क उठती है; लेकिन जब मैं अपनी पूँजीकी ओर निगाह डालता हूँ, साधन-सम्पन्नताकी ओर दृष्टि करता हूँ तो मेरा दिल टूट जाता है—जी छूट जाता है। मुझे कुछ भी तो ऐसा नहीं मिलता, जिसे पाथेय बनाकर मैं महानताके पथपर पैर रखूँ। जिस किसी भी अपनी विशेषता-को लेकर तनिक जी रुकता भी है, तो इधर-उधर आँखके उठते ही दीख पड़ता है कि उसके तो इस दुनिया-में कितने ही एक-से-एक बढ़कर समन्दर बने बैठे हैं और परिणामतः तुरंत ही ज्यों-का-त्यों पुनः बैठ जाता है। जो ही बैठ जाय—बैठा रहे, तो फिर उठे-बढ़े कौन ?

और इतनेपर भी कुछ सोच-समझकर, कुछ भ्रम-भटककर किसी ओर दो ढग धरता भी हूँ, तो अपने-से अधिक साधन-सम्पन्नों एवं पूँजीपतियोंसे कुचल-पीसकर धर दिया जाता हूँ।

निष्कर्ष यह निकलता है कि निराशाका घटाटोप मुझे चारों ओरसे छा लेता है। आशाके नामपर इस भरी-पूरी दुनियामें मुझे कहीं कुछ भी तो नहीं सुझता; मेरे लिये कहीं कुछ भी तो नहीं रह पाता।

ऐसेमें प्रभु ! जब सभीसे मेरा जी खट्टा हुआ होता है, हटा हुआ होता है, मुझे तुम्हारी सुधि आती है और मैं अपने समस्त हीनत्वको साथ लिये अपनी क्षुद्रतासे क्षुब्ध एवं महानताके लिये लालायित हुआ, सबको झटक, एकमात्र तुम्हारा होकर आँखोंमें आँसु भरे हुए, हाँफता-क्राँपता-सा तुम्हारे चारु चरणोंमें लोटनियों लेने लगता हूँ। सव सुध-बुध—स्वयंकी स्वयंता भी एक सिरसे विसर जाती है।

और तब आनन-फानन आश्चर्योंका आश्चर्य फट पड़ता है—मुझे सर्वाङ्गसे चकित-स्तम्भित करते हुए !

देखते-देखते निमिषार्धमें निराशाका घटाटोप छिन्न-विच्छिन्न होकर आशाका प्रकाश फैल जाता है। तुम्हारी करुणाका समन्दर मौजमें आकर असीमताकी उछालें लेने लगता है और तब मैं तुम्हारे गले लगा तुमसे—तुम परम पूर्णसे परम अमेद हुआ, अपने हीनत्वको शून्यपद प्रदान कराता, स्वयं महानोंका महान् बनकर अपनी हुड़क पूरी कर रहा होता हूँ—कृतकृत्यताका शिखर छू रहा होता हूँ।

—हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

अटूट आस्था

मेरी जीवन-नैया
किनारे लगा दे प्रभु !
मत विचार कर
मेरी बुद्धियोंपर,
अक्षम्य अपराधोंपर
हर गलतीके बाद
तेरा नाम ले लेता हूँ
तुझे याद कर लिया करता हूँ
पापके परिणामोंसे घबराकर
तेरी शरणमें आ जाता हूँ

इसका मतलब है—
अपने कृत्यपर
पछता लेता हूँ !
उच्चरोत्तर
मेरे अपराधोंकी संख्या
कम हो रही है
यह प्रत्यक्ष
प्रबल प्रमाण है
कि मैं तुझपर
अटूट आस्था रखता हूँ !

—श्रीनारायण शर्मा

गीता-सुख

(एक महात्माद्वारा लिखित ग्यारह श्लोकोंकी व्याख्या)

गीता-गुह्यका अर्थ है—श्रीमद्भगवद्गीताका गूढतम सारतत्त्व । इस सारतत्त्वका संकलन एक वैराग्यसम्पन्न गीता-विचारक महात्माने ग्यारह श्लोकोंमें किया है । वास्तवमें ये ग्यारह श्लोक गीताके गूढतम भावोंसे भरे हुए हैं । महात्माजीका विश्वास है कि अध्यात्मविषयक जितने भी प्रश्न या संदेह उठ सकते हैं, उन सबका समाधान इन एकादश श्लोकोंद्वारा होना सम्भव है । इसमें संदेह नहीं कि ये श्लोक प्रत्येक अध्यात्म-पथके पथिकके लिये अत्यन्त उपयोगी होनेके कारण निरन्तर चिन्तनीय एवं मननीय हैं । कुछ साधक मित्रोंका कहना है कि इस गीता-गुह्यकी हिंदीमें व्याख्या कर दी जाय तो जिज्ञासुओंको इससे बड़ा लाभ हो सकता है ।^१ उनके इस आदेशसे प्रेरित हो मैं योग्यताशून्य होनेपर भी इन श्लोकोंपर कुछ लिखनेकी चेष्टा करता हूँ और इस धृष्टताके लिये सादर क्षमा चाहता हूँ ।

जगत्में अधिकांश ऐसे लोग हैं, जो स्वाध्यायके बलपर बड़ी ऊँची बातें करते हैं। वे अपने सम्भाषणोंमें तत्त्वज्ञान और विवेककी गम्भीर बातें प्रस्तुत किया करते हैं। तर्कों और युक्तियोंद्वारा अपनी बातको न्यायसंगत और बर्म-सम्मत सिद्ध करके दूसरोंसे उसको मनवा लेनेकी क्षमता रखते हैं; परंतु यह सब उनका प्रज्ञावाद मात्र है। वे स्वयं उसमें स्थित नहीं हैं। उनके मनमें नक्षर वस्तुओंके प्रति आसक्ति है; मोह है। वे अशोच्यके लिये शोक करते हैं और ज्ञानी पण्डितोंकी तरह बातें करते हैं। गीतामें ऐसे लोगोंकी बातोंको 'प्रज्ञावाद' की संज्ञा दी गयी है। अर्जुन भी किसी समय इस प्रज्ञावादके शिकार हो गये थे; परंतु भगवान् ने गीताका गुह्य ज्ञान देकर उन्हें बचा लिया। अतः हमें प्रज्ञावादको दूरसे ही त्यागकर गीताके गुह्य ज्ञानका आश्रय लेना चाहिये। मनुष्यको सबसे बड़ा भय मृत्युसे लगता है। वह सोचता है—एक दिन मैं मरूँगा, मेरे सम्बन्धी मरेंगे, फिर उनके बिना मैं और मेरे बिना वे कैसे रहेंगे ? यही महान् मोह है। गीता कहती है—हम सब शरीर नहीं, इन्द्रिय, मन-बुद्धि भी नहीं, इन सबसे परतर आत्मा हैं, 'यो बुद्धेः परतरस्तु सः।' विभिन्न शरीरोंका अभिमानी जीवात्मा भी जडतत्त्वोंसे परे विशुद्ध चेतन है; चेतन परमात्माका सनातन अंश है—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' अतः कभी उसका नाश नहीं होता। यह जानकर मृत्युके भयसे सर्वथा रहित हो जाना चाहिये। रह गयी शरीर या संसारमें इसी तरह

सदा बने रहनेकी बात, सो तो सर्वथा असम्भव है । संसार परिवर्तनशील है, अनित्य है । शरीर क्षणभङ्गुर है, पुराने वस्त्रकी तरह एक दिन जीर्ण-शीर्ण होनेवाला है—यही इसका स्वभाव है । अतः कोई भी जीवात्मा संसारमें किसी एक ही शरीरमें सदा रह नहीं सकता, यह बहुत स्पष्ट बात है । क्या कोई भी मनुष्य सदा एक ही वस्त्र पहने रह सकता है ? कदापि नहीं । वस्त्र-परिवर्तनकी तरह शरीर-परिवर्तन भी अवश्यम्भावी है । गीता-गुह्यका प्रथम श्लोक यही संदेश देता है—

प्रज्ञावादान् निराकृत्य गीतागुह्यं प्रगृह्यताम् ।

नैव नाशो निवासो वा कस्यचिदिति निश्चितम् ॥

मरनेवाले शरीरको, जड़-संघातको कौन बचा सकता है ?
 बालूकी भीतको सुस्थिर बनाये रखनेकी सम्भावना कौन
 करेगा ? बालूकी भीत तो ढहेगी ही, मरनेवाला मरेगा ही ।
 पञ्चतत्त्वोंका बना हुआ यह प्राकृत प्रपञ्च मरणधर्मा ही तो
 है । इसीसे तो इस लोकको मर्त्यलोक कहा गया है; यहाँ कौन
 ऐसी वस्तु है, जो अमर रह सकेगी । इसी तरह जो अवश्य—
 अमृत्युगोचर—अमर आत्मा है, उसे कौन मार सकता है ?
 गीता कहती है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न क्षोषयति मारुतः ॥

इसे शस्त्र नहीं काट सकते, आग नहीं जला सकती, पानी नहीं गला सकता और हवा भी नहीं सुखा सकती । यह अच्छेद्य, अदाद्य, अक्लेद्य और अशोष्य है (गीता २ । २४) । जो यह मानता है कि आत्मा किसीको मारता है और जो इसे मारा गया समझता है, वे दोनों ही मूर्ख हैं । आत्मा न तो मारता है और न मरता ही है । (२ । १९) असत् वस्तु असत् ही रहेगी और सद् वस्तु सत् ही । असत् सत् नहीं होगा और सत् असत् नहीं हो सकता—चासतो विद्यते भादो नास्म्यो विद्यते सतः । (गीता २ । १६) इसलिये जन्म और मृत्यु—वद् भ्रान्त कल्पना है । वास्तवमें किसीके जन्म और मृत्यु नहीं होते । आत्मा तो अजन्मा और अमर है । उसका किसी शरीरके साथ सम्बन्ध रहना जन्म और जीवन कहलाता है और उस सम्बन्धका हट जाना मरण कहा गया है । उस जन्म और मरणके पहले और बाद भी उसकी सत्ता है, फिर जन्म-मरण कैसा ! जड़ वस्तुके जन्म-मरण भी भ्रम ही हैं । घड़ा बनता है और फूटता है, इसको कोई उसका

जन्म और मरण कहे तो कहता रहे । विवेकी जानते हैं वह पहले भी मिट्टी था और बादमें भी वही है । नाम-रूपकी कल्पना आयी और गयी । वस्तु तो वह-ही-वही है । गीता-गुह्यकी वाणीमें वही बात पढ़िये—

त्रियमाणं हि को रक्षेत् कोऽवध्यं हन्तुमर्हति ।

असदसिद्धिं सत्सच्च जन्ममृत्युर्न तत्ततः ॥ २ ॥

देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था और परिस्थितिके अनुसार जो कार्य प्राप्त हो जाय—जैसे करना जनहितकी दृष्टिसे आवश्यक हो जाय, वह ईश्वरकी आज्ञा मानकर करने योग्य है, भले ही वह कार्य बुद्धके रूपमें, स्वजनोंके साथ भी संग्रामके रूपमें प्राप्त हुआ हो, वह कर्तव्य-कोटिमें आ जाता है । कर्तव्य-कार्य कर्तव्य (करने योग्य) ही है । परंतु उसे करनेका एक अच्छा ढंग है । विपत्तिका शोधन करके औपधके साथ उसका योग कर दिया जाय तो घातक विप भी अमृततुल्य प्राणरक्षक बन जाता है । इसी तरह यद्यपि कर्म बन्धनकारक होता है, तथापि गीतोक्त योगके द्वारा यदि उसका सम्पादन हो तो वह न केवल बन्धन-निवर्तक होता है, अपितु परमानन्दपदकी प्राप्ति करानेवाला बन जाता है; उस कर्मसे परमेश्वरकी पूजा करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्यं सिद्धिं विन्दति मानवः ।

(गीता १८ । ४५ का उत्तरार्द्ध)

वह कला है समता । मनुष्य सिद्धि-असिद्धिमें सम हो जाय । कलासक्तिको त्याग दे । राग-द्वेषसे, अहंता-समतासे शून्य एवं निष्पक्ष हो जाय । जैसे न्यायाधीश जब न्यायके सिंहासनपर बैठता है, तब किसी भी अपराधीके प्रति उसके मनमें राग या द्वेष नहीं होता । वह कहीं पक्षपात न रखकर अपराधके अनुसार दण्डकी व्यवस्था देता है । उस दशामें मृत्युदण्ड देकर भी वह पापका भागी नहीं बनता । इसी तरह निष्पक्ष, निर्मम, निरहंकार होकर कर्तव्यका अनुष्ठान हो तो वह बन्धनकारक नहीं होता, वह साधन एवं समाराधन बन जाता है । गीता-गुह्यकी अमृतमयी वाणीमें इस उपदेशका रसाम्बादन कीजिये—

कर्तव्यश्चेद्धि कर्तव्यः संग्रामः स्वजनैरपि ।

निष्पक्षो निर्ममो भूत्वा न्यायाधीशसन्त्यजत ॥ ३ ॥

जो संसार-बन्धनसे मुक्त होना चाहता हो, उसे कौशलसे और यशके भावसे कर्म करना चाहिये । कौशल क्या है—‘योगः कर्मसु कौशलम्’—योग ही कर्मविषयक कौशल है । तब फिर योग क्या है ? योग है समता—‘समत्वं योग

उच्यते’ । इस समत्व-बुद्धिसे युक्त हो—आसक्ति, फलेच्छा, कर्तृत्वाभिमान आदिके त्यागपूर्वक सिद्धि-असिद्धिमें सम रहते हुए कर्म करना चाहिये । यही योगस्थ होकर कर्म करना है । यह योग ही कर्म-विषयक कौशल है । यश क्या है, इसे भी समझ लेना आवश्यक है । दूसरेके हितके लिये जो अपनी वस्तुका त्याग है, वह यज्ञ है । प्रजापतिने यज्ञसहित प्रजाकी रचना करके प्रजाओंसे कहा—‘तुमलोग इस यज्ञके द्वारा उन्नति करो । यह तुम्हें अमीष्ट भोगोंको देनेवाला होगा । तुम और देवता इस यज्ञके द्वारा एक दूसरेका उन्नयन करते हुए परम कल्याणके भागी होओगे ।’ इन सबका मथितार्थ निकाला जाय तो जनता-जनार्दनकी तथा देवताओंकी जो सेवा-पूजा भगवत्प्रीत्यर्थ की जाती है, वह सब यज्ञ है । यज्ञभावसे जो क्रिया की जाती है, वह बन्धन नहीं, मोक्ष देनेवाली होती है—

यज्ञार्थोऽकर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

—यज्ञार्थसे भिन्न कर्म करनेवाला जन-समुदाय बन्धनमें पड़ता है । इसीलिये गीतामें भगवान्ने अनासक्त भावसे यज्ञार्थ कर्म करनेकी आज्ञा दी है—

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।

इस प्रकार कर्म करना श्रेयस्कर है । जो ऐसा नहीं करता, उसपर मायाका चक्र घूम सकता है और माया कर्म न करने-वालेको विमुक्त—योगसे वञ्चित कर देती है । भगवान्ने गीतामें कहा है—कोई क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता । कर्म न करनेसे कर्म करना अच्छा है । कर्मेन्द्रियों-को रोककर मनसे विषय-चिन्तन करना मिथ्याचार है । मन-को संयममें रखते हुए कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका अनुष्ठान करनेवाला अनासक्त पुरुष श्रेष्ठ माना गया है । यही बात निम्नाङ्कित श्लोकसे अभिव्यक्त होती है—

कौशलेन क्रिया कार्या यज्ञभावान्मुमुक्षुणा ।

मायाचक्रं विवर्तेत मायाक्रियं वियोजयेत् ॥ ४ ॥

अब प्रश्न होता है कि कर्मयोग और ज्ञानयोगमें परस्पर कोई सम्पर्क स्थापित होता है या दोनों एक दूसरेसे असम्पृक्त रहते हैं ? इसका उत्तर गीता-गुह्यके शब्दोंमें इस प्रकार है—

योगो ज्ञानेन स्याद् युक्तो ज्ञानं योगेन संविशेत् ।

भूमुबोवच्च सर्वत्र प्रज्ञात् तयोर्व्यवस्थितिः ॥ ५ ॥

योग ज्ञानसे युक्त हो सकता है और योगसे ज्ञानमें प्रवेश किया जा सकता है । जैसे भूलोक (पृथ्वी) और भुवर्लोक (अन्तरिक्ष) एक दूसरेसे नित्य ओतप्रोत हैं, इसी तरह सर्वत्र कर्मयोग और ज्ञानयोगमें अनिष्ट सम्बन्ध है । गीता भी कहती है—

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।

अर्थात् जो फलकी दृष्टिसे ज्ञानयोग और कर्मयोगको एक देखता है, वही ठीक देखता है । इन दोनोंमेंसे एकका भी सम्यक् आश्रय लेनेवाला पुरुष दोनोंका फल पाता है । अतः सांख्य और योगको एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् बतानेवाले मूर्ख हैं । पण्डितजन उन्हें पृथक् नहीं मानते । इसलिये फलपर दृष्टि रखते हुए दोनों साधनों को परस्पर संयुक्त कहना असंगत नहीं है । इसके सिवा निष्काम कर्मयोगके अनुष्ठानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है । शुद्ध अन्तःकरणमें ज्ञानका प्रकाश स्वतः आविर्भूत होता है, अतः 'योगो ज्ञानेन युक्तः स्यात्' यह कथन ठीक ही है । इस प्रकार योगसे ज्ञानमें निष्ठा होती है; अतः 'ज्ञानं योगेन संविशेत्' । यह कथन भी असंगत नहीं है । फिर उन दोनोंकी जो पृथक्-पृथक् व्यवस्था है, उसकी संगति कैसे लगेगी ? इसके उत्तरमें कहते हैं—'प्रश्नात् तयोर्च्यवस्थितिः ।' प्रश्नसे उनकी व्यवस्थाका रहस्य जानना सम्भव है । 'प्रश्न' शब्द प्रणिपात और सेवाका भी उपलक्षण है । प्रणिपात (नमस्कार), परिप्रश्न (जिज्ञासा) और सेवाद्वारा महापुरुषको संबुष्ट करके ही सत्त्वज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और तत्त्वदर्शी पुरुष ही उस ज्ञानका उपदेश कर सकते हैं । अधिकारीकी दृष्टिसे वे सांख्य और योग प्रारम्भमें पृथक्-पृथक् साधन हैं; परंतु परिपक्वावस्थामें दोनों दोनोंके फल देनेमें समर्थ हैं, अतः एक भी कहे जा सकते हैं ॥ ५ ॥

सबके सारभूत परमात्मा हैं । यह संसार अनित्य—असार और असुख है, यहाँ सर्वसार-स्वरूप परमात्माका स्मरण-चिन्तन ही मानव-जीवनका परम कर्तव्य है, गीता-गुह्यकी वाणीमें—

संस्मरन् सर्वसारं तं तदर्थं कर्म फलपयन् ।

तदादर्शस्त्वमेवासि तस्य भावः स एव हि ॥ ६ ॥

सर्वसारभूत परमात्माके सम्यक् स्मरणपूर्वक उन्हींके लिये—उनकी ही प्रीतिके लिये सब कर्म करते रहना चाहिये । साधकजन । इसके आदर्श तुम्हीं हो । तुम्हीं निरन्तर परमात्मस्मरणपूर्वक तदर्थं कर्म करनेवालेके आदर्श (उदाहरण) बन सकते हो । तुम उन परमात्माकी सत्ता हो, अतः स्वयं वह परमात्मा ही हो ॥ ६ ॥

हम पतित हैं, पथभ्रष्ट हैं, क्या हम परमात्मचिन्तनके अधिकारी हो सकते हैं ?—ऐसी चिन्ता न करो; क्योंकि—

पतितपावनः श्रीशः प्रीतः पत्रेऽपि पितृवत् ।

धर्म्यामृतेन संसेव्यः सगुणो निर्गुणोऽपि सः ॥ ७ ॥

भगवान् श्रीपति पतितोंके भी पावन हैं । किरात, हूण, आर्य और पुष्कस आदि अधम जातिके लोग भी उनके आश्रित भक्तोंका भी आश्रय लेकर शुद्ध हो जाते हैं । भगवान् स्वयं कहते हैं—मेरी शरण लेकर पापयोगी भी मुझे प्राप्त कर लेते हैं । अत्यन्त दुराचारी ही क्यों न हो, यदि अनन्यभावसे मेरा भजन करने लगता है तो शीघ्र ही शुद्ध, धर्मात्मा हो जाता है । 'अर्जुन ! तू सब धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें आ जा । मैं तुझे सब पापोंसे छुड़ा दूँगा, शोक मत कर ।' ऐसे पतितपावनके होते हुए पतितोंकी भगवत्प्राप्तिके विषयमें निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है । वे हम सबका उद्धार करनेके लिये उत्सुक हैं, हमारी राह देखते हैं, हमें अङ्गमें उठा लेनेकी उतावले हैं । हम उनकी ओर चलें तो सही । पतितपावन होकर भी यदि वे दयाळु न हों, किसीसे उनकी प्रीति न हो तो वे क्या भला कर सकते हैं ? ऐसी शङ्काके लिये भी गुंजायश नहीं है । जो स्तनमें विष लगा मार डालनेके लिये आधी हुई पूतनाको भी माताकी गति दे सकते हैं, उनसे बढ़कर दयाळु और कौन हो सकता है ? X

गीतामें वे अपनेको समस्त भूतोंका सुहृद् बताने हैं । अतः विश्वास करो कि भगवान् श्रीहरि पतितपावन होनेके

* किरातहूणान्प्रपुलिन्दपुष्कसा

आभीरकक्षा यवनाः खसादयः ।

येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः

शुध्यन्ति तस्मै प्रमद्विष्णवे नमः ॥

† मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोगिनः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि याति परां गतिम् ॥

‡ अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

§ सर्वधर्मात् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

X अहो बकी यं स्तनकालकूर्दं

जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।

कमे गतिं धात्र्युचितां ततोऽर्यं

कं वा दयाळुं शरणं ब्रजेम ॥

÷ भोक्तारं यत्तपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां शाल्वा मां शान्तिमुच्छति ॥

साथ-साथ प्रेमी भी हैं। चेतन जीवोंपर ही नहीं, जड़ वृक्षोंके एक-एक पत्तेपर भी उनका पिताके समान प्रेम है। वे पत्ते-पत्तेको पिताका प्यार देकर पालते हैं। उनका 'धर्म्यामृत'के द्वारा सम्यक् सेवन करना चाहिये। गीताके बारहवें अध्यायमें श्लोक १३ से १९ तक जो भक्तोंके लक्षण तथा सात्त्विक गुण वर्णित हुए हैं, उनको 'धर्म्यामृत' कहा गया है। उस धर्म्यामृतको अपनाकर तदनु रूप गुणोंसे युक्त होकर वैसी ही निष्ठासे उन पतितपावन सर्वभूतसुहृद् श्रीपतिकी समाराधना करनी चाहिये। वे एक ही परमात्मा सगुण भी हैं और निर्गुण भी। उन एक ही सच्चिदानन्दधन श्रीकृष्णके भजनसे समग्र परमेश्वरकी आराधना हो जाती है ॥ ७ ॥

गीतामें जीवात्माको क्षेत्रज्ञ कहा गया है और शरीरको क्षेत्र। वहाँ ज्ञानका भी वित्तृत वर्णन है। शरीर और संसारका मूल परब्रह्म है। इन्हीं सब बातोंको सूत्ररूपसे गीता-गुह्यकी शब्दावलीमें पढ़िये और मनन कीजिये—

शरीरं क्षेत्रमित्याहुर्ज्ञानं सत्त्वज्यवस्थितिः ।

मूलं ज्ञेयं परं ब्रह्म जन्माद्यस्य यतोऽन्यथात् ॥ ८ ॥

हमारा यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं (इसका ज्ञाता पुरुष क्षेत्रज्ञ है)। इन दोनोंके तत्त्वका बोध ही ज्ञान है। गीतामें इस ज्ञानके साधनोंका (१३।७ से १३।११ तक) वर्णन मिलता है। इन सबके द्वारा ज्ञानी पुरुषकी सत्त्वगुणमें स्थिति होती है। सत्त्वगुण प्रकाशक कहा गया है; अतः सात्त्विक पुरुषके अन्तःकरणमें ही उस ज्ञानका प्रकाश होता है, जहाँ जिपुटी समाप्त होकर सब कुछ ज्ञानरूप ही रह जाता है। अतः सत्त्वमें स्थितिकी ही यहाँ ज्ञान कहा गया है। सत्त्व परमात्माका नाम है; परमात्मनिष्ठा भी 'ज्ञान' पद वाच्य है। पूर्वोक्त सगुण-निर्गुणरूप परब्रह्म परमात्मा ही सबका मूल है, ऐसा जानना चाहिये। गीतामें भगवान् ने प्रकृतिको सम्पूर्ण जगत्की जननी और अपनेको वीजाधान करनेवाला पिता कहा है। ब्रह्मसूत्रमें 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रके द्वारा यह बात बतायी गयी है कि इस जगत्के जन्म, स्थिति और प्रलय—जिससे होते हैं, यह ब्रह्म है। अतः जगत्का मूल परब्रह्म ही है—यह निश्चित हो जाता है। अन्ययी हेतुसे यह बात सिद्ध है। 'तत्सत्त्वे तत्त्वस्त्वमन्वयः' कारणकी सत्ता होनेपर ही कार्यकी सत्ता है; परमात्मा हैं, तभी उन जगदाधारके सहारे जगत् टिका हुआ है। इस प्रकार यहाँ अन्यय-सहचार

है। परमात्मा सबका मूल है, आधार है एवं उसीसे जगत्की उत्पत्ति आदि होते हैं, इस बातके शतशः प्रमाण-वचन वेदशास्त्रोंमें उपलब्ध होते हैं ॥ ८ ॥

परमात्मा यह अमृत है, जिसका बोध—अनुभव हो जानेपर अन्य सब कुछ विरस हो जाता है—

गुणार्हमम्बरं येन व्यावृत्तं वै तदमृतम् ।

यद् बुद्ध्वा विरलं सर्वं येन स्यान्मधुरं मधु ॥ ९ ॥

जिसने शब्द-गुणके आश्रयभूत आकाशको व्याप्त कर रखा है, वह परब्रह्म परमात्मा 'अमृत' कहा गया है। जिसको जान लेनेपर अन्य सब कुछ विरस, रसहीन हो जाता है; उनके सम्यन्धसे ही मधु मधुर प्रतीत होता है। मधुका माधुर्य वास्तवमें वह अमृतमय ब्रह्म ही है। अतः उस मधुरातिमधुर मधुराधिपतिका ही रसास्वादन करना चाहिये; क्योंकि 'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।' विषय तो विष हैं; जिसे अमृत उपलब्ध है, वह विषपान क्यों करे? उसे तो नित्य-निरन्तर उस अमृत-रससिन्धुमें ही गोता लगाना चाहिये ॥ ९ ॥

जगत्में बन्धन और मोक्ष—दोनोंके मार्ग हैं। उनकी जानकारी और प्राप्ति कैसे हो? यह गीता-गुह्यकी वाणीमें सुनिये—

तपस्त्यागादिभिर्लिङ्गैर्मुक्तिमार्गः प्रतीयते ।

दम्भदर्पादिभिर्लिङ्गैर्बन्धमार्गो न गम्यते ॥ १० ॥

तप और त्याग आदि शापक चिह्नोंसे मुक्ति-मार्गकी पहचान होती है तथा दम्भ, दर्प आदि चिह्नोंसे बन्ध-मार्गकी। इस बन्धमार्गपर सच्चे साधक नहीं चलते ॥ १० ॥

गीता-गुह्यका अन्तिम संदेश यों है—

इत्थं हि साधु वर्तेथा यथा त्वां तु स्मरेद्धरिः ।

परित्यज्य प्रवृत्तिं वा सर्वदैकं हरिं सर ॥ ११ ॥

तुम इस प्रकार साधु-वर्ताव करो—भक्तों और संतोंके ऐसे सदाचारको अपनाओ, जिससे श्रीहरि निरन्तर तुम्हें स्मरण करें—'यो मङ्गलः स मे प्रियः' कहकर प्यारसे याद करते रहें। अथवा यदि धर्मानुष्ठान या विशिष्ट आचारका निर्वाह सम्भव हो तो सारी प्रवृत्तियोंका परित्याग करके सदा-सर्वदा एकमात्र श्रीहरिका ही स्मरण करो, 'सर्व-धर्मान् परित्यज्य मामेकं धारणं भज ।'—भगवान् का यह आह्वान सुनकर एकमात्र उन्हींके शरणागत हो जाओ। फिर तो वेड़ा पार है ॥ ११ ॥

व्याख्याकार—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री साहित्याचार्य

आराध्य रामका नखशिख

(रचयिता—डा० श्रीवलदेवप्रसादजी मिश्र, डी० लिट्०)

प्रणव हुआ तारकमें विकसित, तारकने त्रिवीज प्रगटायी
और त्रिवीज घना होकर ही बना त्रिकोण वक्ष मनभाया ।
रं से कर, आ से पद, मं से मुखने अपनी ज्योति दिखायी
भीतरके दृढ़ नाद तत्त्वने बाहर प्रभुकी आकृति पायी ॥

अग्निवीज आपद्-अपहर्ता, सायुध द्विभुज परम ललाम है
धनुः कर्म है, अनासक्ति शर, सत् स्वरूप अभिवन्द्य राम है ।
इन हाथोंमें जगदव्यवस्था, इन हाथोंमें जग-जन-रक्षा
इन हाथोंमें अभय-दान है, इनमें ऋद्धि-सिद्धि प्रत्यक्षा ॥

पञ्चतत्त्व-रचना-प्रपञ्च सब इनके पंजोंपर नचता है
जिनपर इनका छत्र तन गया, उनको क्या पाना बचता है ।
इनकी मुट्ठीमें लय-लीला, करतलपर अपवर्ग-स्वर्ग है
दसों अँगुलियोंपर दसदिशका आश्रित ललित निसर्ग-सर्ग है ॥

सूर्यबीज सब सम्पद्-दाता, ज्ञान और विज्ञान-विधाता
पद्-पद्मोंके रूप परम पद, चिन्मय भूत-भविष्यत्-ज्ञाता ।
इन चरणोंमें सकल चेतना, इन चरणोंमें सकल क्रान्ति है
इन चरणोंमें भुक्ति-मुक्ति है, इन चरणोंमें परम शान्ति है ॥

साधक-मनका कलुष-पङ्क है, उसमें ये पङ्कज खिल जायें
साध यही, इन चरणोंकी नख-किरणोंके कुछ कण मिल जायें ।
श्रद्धाकी मधुकरी इन्हींसे माँग मधुकरी रमे इन्हींमें
इनपर ही लोटे रहनेके हों मेरे अरमान न धीमे ॥

चन्द्रबीज लोकाभिराम, जो लोकोत्तर-आनन्द-विलासी
जिस लावण्य-सिन्धुके लघुतम सीकरसे त्रैलोक्य-सुपासी ।
भक्ति-चकोरी-चन्द्र राम-मुख अग-जग-श्री-सौन्दर्य समेटे
महक रहे इसका प्रसाद पा संत-सुमन भी सुरभि लपेटे ॥

मुक्ता मिस मुक्तोंकी माला यदि इस मुखके मूल विराजी
तो श्रुति-आश्रयसे मकराकृत कुटिलोंने सात्त्विक छवि साजी ।
ऊपर प्रेम-हेम मणि-मण्डित कण-कण करुणा-किरण-प्रसारी
काम-कल्पनाके करोड़ मुख इस अद्भुत मुखपर बलिहारी ॥

इसके विशद प्रभा-मण्डलसे कान्ति-शान्ति-निर्झर झरते हैं
प्रेय-श्रेय इसके ललाटपर जयका स्वतः तिलक करते हैं ।
इस मुखपर है श्वेत-श्यामने सम्मोहन-लीला विस्तारी
इस मुखका जो ध्यान-धनी हो, वह है भाग्यवान अधिकारी ॥

इस मुखके दो केन्द्र-विन्दु हैं—एक नयन हैं, अपर अधर हैं
नयन रसीले, अधर हँसीले, नयन सलोने, अधर मधुर हैं ।
नयन कमल-जैसे विशाल हैं, कमला-सृष्टि रचनेवाले
वैसे अधर-पलाश अनुग्रहका रस अथक लुटानेवाले ॥

इन नयनोंमें प्रेम-अमृत है, इन नयनोंमें भक्ति-सुधा है
इन नयनोंके कृपा-चारिसे, आपूरित समग्र चक्षुधा है ।
इन अधरोंमें भरे मुखर वर, इन अधरोंमें मौन विमोहन
इन अधरोंमें मन्द-स्मित है, जो अमन्द आनन्द-महाघन ॥

नयनोंकी, अधरोंकी विद्युत्, चरणोंके पथसे गति पाती
चरणाश्रित पर वह विद्युन्मय कृपा कृपा करती न अघाती ।
जिसके उरमें चरण वस गये, प्रभुने उसतक हाथ बढ़ाये
इस चतुरङ्ग-चमूका मेरा चञ्चल मन वैधुवा वन जाये ॥

कर-सरोज हैं, पद-सरोज हैं, अधर-सरोज, नयन-सरोज हैं
सब अनुराग-लालिमा-रक्षित, स-प्रसाद-माधुर्य-ओज हैं ।
दीनकन्धुका पीताम्बर है, दीनोंपर अपनत्व खरा है
पीला यदि नीलेमें लय हो तो वह निश्चय हरा-भरा है ॥

मधुराधिपका अखिल मधुर है, परम हृद्य इनकी संसृति है
नरकी प्रकृति हुआ जो चाहे, नारायणकी वह आकृति है ।
करुणा-वरुणालयका नख-शिखर-भाव-रचित, अतिशय अनूप है
निराकार-साकार रूपमें दृग-संमुख रघुवंश-भूप है ॥

चित् या अचित् कि लक्ष्मण-सीता, कहनेको ही भिन्न-भिन्न हैं
जीव-जगत् सब रामचन्द्रमें, रामभद्र सबमें अभिन्न हैं ।
सुस्थिर हैं, फिर भी गतिदाता; मौन, किंतु प्रतिपल सस्वर हैं
मूर्ति नहीं, ये मूर्त चेतना, सुदृढ़ सत्य आराध्य अमर हैं ॥

तन्मयतासे पूर्ण समर्पण-भावोंके शुद्धि अर्घ्य चढ़ाये
जाग्रत् ज्योति जगमगी देखे, मन आरती स्वतः वन जाये ।
निश्चय है—मद-लोभ-मोहके शलभ तभी तो भस्म वनेंगे
और सुरभिमय जग-मङ्गलके वृत्त-विसारी धूम तनेंगे ॥

वृत्त-विसारी धूम तना दो, जीवन मङ्गल-धाम बना दो
चरण-शरण देकर अपना लो, सेवाका उल्लास बना दो ।
कह दो, प्रभु! इस चित्त-वृत्तिका तुममें, केवल तुममें लय हो
प्रणव तुम्हीं, उद्धारक-तारक, राम! तुम्हारी जय हो जय हो ॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आदर्श पतिव्रता पत्नी

आजके 'इस' भौतिक भोगप्रधान युगमें—जहाँ दिनोदिन पवित्र त्यागमयी भारतीय संस्कृतिका ह्रास हो रहा है, मानवताका पतन हो रहा है, आसुरी भोगवाद, फैशनपरस्ती तथा नास्तिकताकी बड़े बेगसे वृद्धि हो रही है, भाई-भाई, पिता-पुत्र तथा पति-पत्नीके बीच कलहाग्नि जल उठी है, सेवाके स्थानपर नीच स्वार्थ-साधन ही जीवनका लक्ष्य बना जा रहा है, नारीके आदर्श सतीत्वका मजाक उड़ाया जा रहा है और भारतीय-संस्कृति-विरोधी तलाक-प्रथा भी पनप रही है, वहाँ आज भी कई ऐसी भारतीय संस्कृतिका गौरव बढ़ाने-वाली घटनाएँ देखनेमें आती हैं, जिनसे भारतीय संस्कृतिका गौरव बढ़ता है और मानवता तथा नैतिकताको प्रोत्साहन मिलता है। ऐसी ही एक घटना नीचे लिखी जा रही है।

लगभग दस वर्ष पूर्वकी घटना है—

हमारे पड़ोसमें एक सम्पन्न कुलीन परिवार रहता था। परिवारमें एक एम० ए० पास शिक्षित युवक भी था। तीन सौ रुपये प्रतिमास कमाता था। वह अविवाहित था। अन्तमें उसका सम्बन्ध एक कुलीन तथा सम्पन्न परिवारकी कन्यासे तय हुआ।

कन्या विशेष रूपवती नहीं थी, पर सद्गुणवती तथा विदुषी थी। तदनन्तर उनका विवाह हो गया। युवक अपनी पत्नीको कम ही पसंद करता था। उसकी इच्छा थी कि कोई अत्यन्त सुन्दरी तरुणी उसकी अर्द्धाङ्गिनी बनती। युवकको दुर्भाग्यवश कुछ मनचले रँगिले मित्रोंका कुसङ्ग मिल गया। वह अपनी सुशीला विवाहिता पत्नीको छोड़कर अपने कार्यालयमें ही काम करनेवाली एक युवतीपर आसक्त हो गया। विवाहिता पत्नी भी दुखी थी, पर बेचारी विवश थी। वह करती भी तो क्या ?

अन्तमें वह समुराल छोड़कर पीहर चली गयी। युवकका अधिकतर समय युवतीके पास ही कटने लगा। धीरे-धीरे समय व्यतीत होने लगा। मायकी विडम्बना देखिये—युवक कुष्ठरोगसे ग्रस्त हो गया।

नयी तरुणी, वह तो एक तरहसे रखेल थी। विलास-

मुखके लिये साथ हुई थी। वह अब युवककी सेवा करना तो दूर, उसे छोड़कर ही चली गयी। युवकका सुन्दर सुगठित शरीर निर्बल होने लगा। चेहरा कुरूप हो गया। शरीरसे आभा झरनेके स्थानपर मवाद चूने लगा। शारीरिक शक्ति दिनोदिन क्षीण होने लगी। घरवाले तो उससे वैसे ही नाराज थे, उन्होंने भी उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

उसकी विवाहिता पत्नी आदर्श नारी थी। उसने पतिको तलाक नहीं दिया था। पीहरमें वह संयमपूर्वक जीवन व्यतीत कर रही थी।

जब उसने पतिकी बीमारी और इस प्रकार उसके प्रति सबकी उपेक्षाका हाल सुना, तब वह एक नौकरकी साथ लेकर समुराल लौट आयी। आते ही उसने पूरे तन-मनसे लगानके साथ पतिकी सेवा करना शुरू कर दिया। उसको नहलाना, खिलाना, समयपर ओषधि देना आदि सब कार्य स्वयं अपने हाथोंसे करने लगी। उसने पतिकी बुराइयोंकी तथा उसके दुर्व्यवहारोंकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। एक कुष्ठरोगपीडित कामी पतिकी भी सेवा करना उसने भगवान्की पूजा समझा। उसने आदर्श नारी-धर्मका पालन किया। निरन्तर सेवा-शुश्रूषा और औषध-सेवनसे पति थोड़े ही दिनोंमें भला-चंगा हो गया।

अब उसे अपने पूर्वके कमोंपर घोर पश्चात्ताप हुआ। वह पत्नीसे क्षमा माँगने लगा। पत्नीने कहा—“आप मेरे भगवान् हैं। आपकी सेवा करना मेरा धर्म है। क्षमा तो उल्टे मुझे माँगनी चाहिये, जो मैं आपसे इतने दिन दूर रही।”

यह कहकर वह पतिके चरणोंमें गिरकर फूट-फूटकर रोने लगी।

पत्तिने उसे अपने गलेसे लगाया और प्रतिज्ञा की कि भविष्यमें वह कोई अनैतिक कार्य नहीं करेगा। आज वे पति-पत्नी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

यह है भारतीय नारीके चरित्रका एक आदर्श।

—प्राध्यापक श्याममनोहर व्यास, एम० ए० पस० सी०

(२)

आप मेरी भी माँ हैं

सन् १९५२ में पुराने सौराष्ट्र राज्यमें जमीनके सुधारके

सम्यन्धमें कानून बना और उस कानूनके अनुसार गरासदारी और बारखली आदि जमीनें—जोतनेवाले किसानोंके अधिकारमें मानी जाने लगीं और उन्हें प्राप्त करनेके लिये फार्म भरकर सरकारमें दिये जाने लगे। ऐसे किसानोंमें एक ठाकरसी पटेल नामके आदमी थे। उनके पास ३० बीघा जमीन गरासदारी और ३० बीघा बारखली थी। यों कुल ६० बीघा जमीन वे जोतते थे। उन्होंने फार्म भरकर पेश कर दिया। बारखली जमीन एक विधवा ब्राह्मणीकी थी। उस ब्राह्मणीने पटेलके पास जाकर कहा कि 'यह जमीन मेरी और मेरे पुत्रकी आजीविकाका साधन है। तुम यदि मुझ ब्राह्मण और गरीब परिवारकी आजीविका छूट लो तो मैं दुखी हो जाऊँगी। आटा माँगकर मैं अपनी आजीविका नहीं चला सकती, अतएव दया करके मेरी जमीनका फार्म तुम वापस ले लो। भगवान् तुम्हारा भला करेगा।' इस प्रकार बहुत-बहुत प्रार्थना करनेपर भी पटेलका हृदय पिघला नहीं और ब्राह्मणी हताश होकर घर लौट आयी।

एक दिन उसी गाँवके एक प्रतिष्ठित और समझदार पटेलने ब्राह्मणीको सलाह दी कि 'तुम ठाकरसी पटेलके लड़के छगनके पास जाओ और उसके सामने अपनी कठिनाई रन्यो। आशा है कि वह कुछ करेगा। बहुत समझदार है और भला भी है।' ब्राह्मणीने छगनके पास जाकर सारी बातें बतानी और कहा कि इस जमीनको तुम्हारे पिता न लें, इसलिये तुम उन्हें समझाओ और ब्राह्मण-परिवारकी रक्षा करो।

छगनने कहा—'मैं पिताजीको समझाऊँगा। वे मान लेंगे तो बहुत ठीक है; नहीं तो, मैं आपको किसी तरह भी ३० बीघा जमीन वापस दिलवा दूँगा—यह आप निश्चय समझें।'।

छगन भाईकी उत्साहवर्द्धक बात सुनकर ब्राह्मणीने समझा कि मेरा आधा काम तो हो ही गया। उसे बड़ा आनन्द हुआ। छगनने दूसरे दिन अपने पितासे बात की, पर वे नहीं माने। छगन निराश हो गया और सोचने लगा कि 'ब्राह्मणीको दिये हुए वचनके लिये अब क्या करना है।'।

बहुत सोच-विचारके बाद छगनके दिमागमें एक बात आयी कि 'मैं यदि पिताजीसे अलग हो जाऊँ तो मुझे जमीनका आधा हिस्सा मिल जाय और मेरे हिस्सेमें आयी

हुई जमीन मैं उस ब्राह्मणीको दे दूँ और स्वयं कहीं मजदूरी करके अपना पेट पालन करूँ।'।

इस तरह निश्चय करके वह अलग हो गया और अपने हिस्सेकी जमीन उस ब्राह्मणीके नाम करके तुरंत उसके पास पहुँचा। जाकर कहा—'लीजिये, मैं आपकी जमीन वापस करने आया हूँ। अब आप अपनी जमीनकी, जैसा ठीक समझें, व्यवस्था करें।'।

इस बातको लगभग दस वर्ष बीत गये, तब एक दिन प्रातःकाल एक घोड़ागाड़ी छगन पटेलके दरवाजेपर आकर खड़ी हुई। उसमेंसे एक बाई नीचे उतरी और छगन पटेलसे कहने लगी—'छगन ! तुमने मुझे पहिचाना है !'

'क्यों ? पहिचानता कैसे नहीं !'

'तो मैं तुमसे मिलने आयी हूँ !'

'मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ !'

'देखो, भाई छगन। जो जमीन तुमने मुझे वापस दी थी, उसकी पैदावारसे मैंने गिरीदाको पढ़ाया और अब वह नौकरीमें लग गया है, अच्छा वेतन पाता है। यह सब तुम्हारी त्यागभावनापूर्ण बुद्धिका फल है। मैं जीवनभर तुम्हारे उपकारको कमी नहीं भूल सकती, तथापि मैं अपने मनकी शान्तिके लिये तुम्हारी दी हुई जमीन तुम्हें वापस दे रही हूँ और इसके साथ ही मेरे रहनेका मकान भी तुम्हें उपहाररूपमें दे रही हूँ।'।

इस प्रकार कहते-कहते ब्राह्मणीका हृदय विचित्र भावनाओंसे भर गया। इसके जवाबमें छगनने इतना ही कहा—'आप अकेले गिरीदाकी ही माँ नहीं हैं, मेरी भी माँ हैं—और वह उसके चरणोंमें छुदक पड़ा।'। 'अखण्ड आनन्द'

—हरजीबाई गोंडभाई दलवाई

(३)

आज भी सत्ययुगके लोग हैं

खरगौनमें श्रीदयारामजी कुम्हार और उनकी धर्मपत्नी सौ० गंगाबाई अपने परिवार-महित रहते हैं। एक दिन सौ० गंगाबाई रेवाबाई रघुवंशीके घर कचरा लाने गयी थीं। टोकरीमें कचरा भरकर घर लायीं और उसे एक जगह रख दिया। उस कचरेकी टोकरीको जब श्रीदयारामजीने जमीनपर उड़ेला तो उसमें उनको एक चमकदार वस्तु दिखायी दी। उन्होंने झट उठाकर देखा तो वह

सोनेकी कंठी थी। सोनेकी कंठी कचरेमें देखकर श्रीदयारामजीको बहुत ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने तुरंत गंगाबाईको बुलाकर पूछा कि 'आज कचरा किनके यहाँसे आया है?' सौ० गंगाबाईने कहा कि 'आज तो मैं केवल रेवाबाई रघुवंशीके यहाँ ही गयी थी और वहाँसे कचरा भरकर लायी हूँ।' तब श्रीदयारामजीने वह सोनेकी कंठी बतायी और कहा कि 'यह कंठी इसी कचरेकी टोकरीमेंसे निकली है।' कंठी देखकर गंगाबाईको भी आश्चर्य हुआ। तब श्रीदयारामजीने कहा कि 'तुम तुरंत जाओ और रेवाबाईको यह कंठी दे आओ, वह बेचारी ढूँढ़ती होगी और दुखी होगी।'

तब सौ० गंगाबाई उस सोनेकी कंठीको लेकर रेवाबाई रघुवंशीके यहाँ गयी और उनसे पूछा कि 'तुम्हारी कोई चीज गुम तो नहीं हो गयी है?' तब रेवाबाईने कहा कि—'क्या कहूँ, बहिन! बच्चोंने सोनेकी कंठी न मालूम कहाँ गिरा दी है, कुछ पता नहीं चलता। सारा घर ढूँढ़ लिया, पर कहीं मिली नहीं। हम सब परीशान हैं।' यह सुनकर सौ० गंगाबाईने हँसते हुए वह कंठी रेवाबाईके हाथोंमें सौंप दी और कहा कि 'दुखी होनेकी आवश्यकता नहीं है। यह कंठी अभी मैं जो आपके घूरेपरसे गधोंके लिये कचरा भरकर ले गयी थी, उसी कचरेकी टोकरीमें घरके लोगोंको मिली है। उन्होंने मुझे तत्काल आपको दे आनेके लिये भेजा है। इसीसे मैं अभी देने आ गयी। अपनी कंठी सम्हालो और चिन्ता छोड़ दो।' यह सारी बातें सुनकर रेवाबाईको अपार हर्ष हुआ और उन्होंने कंठी लेकर रख दी।

बादमें रेवाबाईने अपने सारे परिवारको पास बुलाकर श्रीदयाराम तथा उनकी धर्मपत्नी सौ० गंगाबाईको भी बुलाया और परिवारवालोंसे कहा कि—'आजसे तुम इनको भी अपने परिवारका समझना। और जब भी अपने परिवारमें विवाह आदि कार्य हों, तब इनको भी बराबर आमन्त्रित करते रहना और आदरपूर्वक भोजन कराना।'

तबसे आजतक रेवाबाईके परिवारवाले सम्पन्न होनेपर भी इस गरीब कुम्हार-दम्पतिको बराबर आमन्त्रित करते हैं और उनका भोजनादिसे प्रेमके द्वारा आदर-सत्कार करते हैं। आज रेवाबाई नहीं हैं, उनका स्वर्गवास हो गया है। परंतु श्रीदयाराम और उनकी धर्मपत्नी सौ० गंगाबाई

जीवित हैं और रेवाबाईके परिवारद्वारा होनेवाले स्वागत-सत्कारकी सराहना करते हैं। यदि श्रीदयाराम और उनकी धर्मपत्नी सौ० गंगाबाई सोनेकी कंठीसे मोह करते और नहीं लौटते तो पापके भागी होते और जीवनभरके स्वागत-सत्कारका अवसर नहीं पाते। परंतु उक्त गरीब कुम्हार-दम्पतिने सोनेकी कंठीका मोह न कर अपनेको पापसे बचा लिया और एक आदर्श उदाहरण उपस्थित किया। वास्तवमें आज इस घोर कलियुगमें भी सत्ययुगके कुछ लोग विद्यमान हैं। मुझे उक्त दम्पतिका प्रत्येक बार खरगौन जानेपर चरण छूनेका सौभाग्य मिलता है, यह मेरा अहो-भाग्य है। मैं दोनोंके चरण छूकर अपनेको कृतार्थ मानता हूँ।

—विष्णुराम सनाववा 'सुमनाकर'

(४)

दयाकी एक झलक

यह बात सन् ६३ की है। पंचायत समिति कोटड़ामें जोगीवड़ नामक एक ग्राममें बाँसकटाईके कार्यपर एक सरकारी नौकर कार्य करता था। जोगीवड़में ही कोटड़ाके एक मुसलमान सज्जनकी दूकान है, जो अजीजभाई फौजदारके नामसे विख्यात है। एक दिन इस सरकारी नौकरने किसी लड़कीके साथ छेड़खानी की। उसपर अजीजभाई फौजदारने सरकारी नौकरको समझाया एवं कुछ शिक्षाप्रद बातें कहीं, परंतु उनका सारा समझाना बेकार हुआ। आखिरमें सरकारी नौकर एवं अजीजभाईके बीच बोलचाल हो गयी और उससे वहाँ एक लड़ाईका-सा रूप बन गया। अजीजभाईने उसके एक चाँटा मार दिया। उसपर सरकारी नौकरने एस्. डी. ओ. आफिस, कोटड़ामें मुकदमा चला दिया कि 'एक सरकारी व्यक्तिको पीटा गया।' इस मुकदमेकी कार्यवाही शुरू हुई। फैसलेमें बम्बु मार्ट सरकारी नौकरको ५१ रुपये जुर्माना एवं एक दिनकी सजा (जेल) मिली। फैसलेके समय अजीजभाई भी वहीं मौजूद थे। फैसला सुनकर वे इस सोचमें पड़ गये कि 'यह व्यक्ति पैसा कहाँसे लायेगा? एवं सजा होनेपर इज्जत जायगी।' सरकारी नियमानुसार रुपया जमा कराना जरूरी था। उस समय अजीजभाईके दिलमें दयाकी एक लहर दौड़ी और उन्होंने अपनी जेबसे ५१ रुपये निकालकर कोर्टमें जुर्माना जमा करा दिया। और एक दिनकी सजाको भी पूरी कोशिश करके माफ

करवाया। जब यह बात उस सरकारी नौकरको मालूम हुई तो उसकी आँखोंसे कृतशताके आँसू उमड़ पड़े। उसने अपनी गलती स्वीकार की और क्षमा माँगी।

इस प्रकारके उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

—विजयसिंह राव, आमेर

(५)

उपकार

दूसरी एल्-एल्० बी० परीक्षाका पहला दिन था। छः महीने रातों जगकर परिश्रम किया था। जवानीके कीमती छः महीने इसीमें लगाये थे। अब हुआ यह कि परीक्षाके लिये समयसे पहले नहीं आ सका। परीक्षाके दिन ही अहमदाबाद पहुँचा और स्टेशनसे सीधे ही लॉ कॉलेजकी तरफ दौड़ा। लॉ कॉलेज पहुँचा, उस समय १० बजकर ५० मिनट हो चुके थे। परीक्षा १० बजकर ३० मिनटपर शुरू होनेवाली थी। यों २० मिनट मुझे देर हो ही गयी, पर लॉ कॉलेज पहुँचनेपर पता लगा कि इस बार परीक्षा लॉ कॉलेजमें न होकर गुजरात कॉलेजमें होगी। मेरे तो मानो प्राण-से ही निकलने लगे। शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया। १० मिनटसे भी कम समय शेष था। न पहुँच सका तो यूनिवर्सिटीके कानूनके अनुसार पेपर नहीं मिलेगा।

मैं सुट्टी बाँधकर गुजरात कॉलेजकी ओर दौड़ा। लगभग १०० कदम दौड़ा हूँगा कि एक युवक साइकिलसे आता हुआ सामने मिला। पता नहीं क्यों, मैंने उस युवकको तुरंत रोका और उससे कहा—‘भाई! मेरी आज दूसरे वर्षकी एल्-एल्० बी० की परीक्षा है, देर हो गयी है, गुजरात कॉलेज जल्दी पहुँचना है। तुम अपनी साइकिल दे दोगे?’

मेरे आश्चर्यके बीच उसने तुरंत ही मुझे साइकिल दे दी। न जान, न पहचान। आजकलका अविश्वासका वातावरण, जहाँ प्रतिदिन धोखेवाजीके किस्से बनते हैं।

परंतु उसने तो साइकिल दे दी। केवल इतना ही कहा—‘सुपरवाइजरको चाबी दे दीजियेगा।’ मैं समयपर पहुँच गया और मुझे इस पेपरमें डिस्टिक्शन मिला। इसमें मेरा परिश्रम तो था ही, पर उस युवकके उपकारका भी हिस्सा अवश्य था।

उसके बाद उस युवकसे मिलना नहीं हुआ, पर उसकी

मीठी याद बार-बार आया करती है और मनमें आता है कि उसका श्रृण कब चुका सकूँगा। ‘अखण्ड आनन्द।’

—जयकान्त ज. रावळ

(६)

ईश्वरकी लीला अपरम्पार है!

जीवनमें कई बार ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं, जिनके मर्मतक पहुँचनेमें बेचारी बुद्धि भी कुण्ठित हो जाती है। ऐसी ही एक घटनाने मेरी बुद्धिके सामने आजतक प्रशस्चिह्न उपस्थित कर रखा है।

ग्वालियरसे भाभीका पत्र आया कि—‘यदि अवकाश हो तो कुछ दिनोंके लिये चले आओ। पिताजी बहुत याद करते हैं।’ घर गये काफी अरसा हो चुका था और मुझे उन्हीं दिनों कार्यवश आगरा भी जाना था। लौटती डाकसे मैंने लिख दिया—‘सोमवारको प्रातः पंजाबमेलसे चलकर दोपहर आगरा उतरूँगा और वहाँसे तीन बजेकी मद्रास-जनतासे चलकर आपके पास शामको पहुँच जाऊँगा।’

आगरामें क्लेमकी कुछ जरूरी कार्यवाही पूरी करनी थी। काम अधिक नहीं था। कुछ कागजोंपर केवल दस्तखत भर करवाने थे। समयपर मैं वहाँ पहुँच गया। क्लेमके कार्यालयमें गया तो पता चला कि आफिसर साहब ही अमी तक तशरीफ नहीं लाये। बारह बज चुके थे। इंतजारके भिया दूबारा कोई उपाय नहीं था। और भी कई आदमी मेरी तरह मन मसोकर बैठे थे और सरकारी अधिकारियोंकी इस स्वेच्छाचारितापर आलोचनाएँ कर रहे थे। मैं भी उनमें शरीक हो गया। दो बजे कहीं जाकर पता चला कि अधिकारी महोदय तो दूसरे दरवाजेसे अंदर प्रवेश कर चुके हैं। कार्यवाही आरम्भ हुई। प्रायः चार बजे मेरी बारी आयी और साढ़े चार तक मैं मुक्त हो गया। गाड़ी निकल चुकी थी। दिलमें बड़ा कुढ़ा। पास ही बस स्टैण्ड था। पूछनेपर पता चला कि ग्वालियरके लिये बस तैयार है। उसीमें बैठ गया। रातको नौ बजे बस ग्वालियर पहुँची।

घर पहुँचा तो मौत-सी चुणी छाई देखकर मन शक्ति हो उठा। कुछ समझ न सका। अंदर लपका तो माँ रोती हुई मेरी ओर दौड़ी और मुझे गलेसे लिपटाकर मेरी कुशलताकी सौ-सौ दुआएँ ईश्वरसे माँगने लगीं। माजरा क्या है? मेरी समझमें कुछ भी न आया तो शिड़ककर

मैंने पूछा, 'माँ, रो क्यों रही हो ? कुशल तो है न ?' इतनेमें दौड़ी-दौड़ी भाभी भी आ गयीं । सारी गुत्थी उन्होंने सुलझा दी—'बड़े भाई साहब तुम्हें लेनेके लिये स्टेशन शामको गये थे तो उन्हें पता चला कि मद्रास-जनता आगरा और ग्वालियरके बीच किसी मालगाड़ीसे टकराकर दुर्घटनाग्रस्त हो गयी है और भारी संख्यामें यात्री हताहत हुए हैं । घर इत्तना देकर भाई साहब शामसे गाड़ी लेकर उधर ही गये हैं । तुमने उसी गाड़ीसे आनेका लिखा था न ? फिर.....' ?

मैं अवाक रह गया । मेरा मस्तक गाड़ीके चक्केकी तरह घूमने लगा । यदि क्लेम-आफ़िसर समयपर आ जाते तो मैं निश्चय ही अपने निर्धारित कार्यक्रमके अनुसार मद्रास-जनतापर चढ़ता, और..... और..... कालके मुँहमें जा गिरता ।

ईश्वरकी भी कैसी विचित्र लीला है ?

—कौटिल्य उदियानी

(७)

माताके अमोघ शुभाशीर्वादका फल

मेरे पूज्य पिता, स्वर्गीय पं० प्रयागदीनजी शुक्ल फैजाबाद कमिश्नरीके तत्कालीन मुंसरिम थे । सन् १९०२ या १९०३ की बात है । उन दिनों मेरी अवस्था पाँच वर्षकी थी और मैं अवोध बालक था । हमलोग महाजनी टोलेमें एक किरायेके घरमें रहते थे, जो दोमंजिला था । दैवयोगसे एक दिन मैं न जाने कैसे ऊपरकी छतपरसे गिर पड़ा । सिरमें ऐसी चोट आयी कि मैं बेहोश हो गया और मेरे मुँह, नाक एवं कानसे रुधिर बह चला । उन दिनों वहाँ एक मुसल्मान डाक्टर मेरे पिताजीके मित्र रहते थे । डाक्टर साहब तत्काल आ गये और मेरी मरहम-पट्टी हुई और उनकी चिकित्सासे मैं एक सप्ताहमें लगभग ठीक हो पाया; किंतु डाक्टर साहबने मैं एक सप्ताहमें लगभग ठीक हो पाया; किंतु डाक्टर साहबने मेरे पिताजीसे कहा था कि 'इस बच्चेके दिमागमें ऐसी चोट लगी थी कि इसके वचनेकी आशा नहीं थी और अब अगर आप इसकी जिंदगी चाहते हैं, तो इससे कोई भी दिमागी काम मत लीजियेगा ।'

मेरी माता कोसलाधीश सरकार राघवेन्द्रकी परम उपासिका और रामचरितमानसे इतना प्रेम रखती थी कि गृहस्थीके साधारण संकटोंमें भी हमेशा अखण्ड पाठका अनुष्ठान

आरम्भ कर अकेले ही या मेरी बड़ी बहिनकी सहायतासे २४ घंटोंके भीतर ही पाठ समाप्त करके हवन इत्यादि कर डालती थीं, तब उठती थीं । मुझे स्मरण है कि दूसरे दिन जब मैंने आँखें खोलीं, तब वे 'आरति श्रीरामायनजी की' गानाकर अपनी रामायणजीकी आरती उतार रही थीं और पिताजी हाथोंमें पुष्प लिये खड़े-खड़े सामने युगल सरकारके सिंहासनको एकटक देख रहे थे । आरती हो गयी, पुष्पवर्षा भी हो गयी, प्रसाद बँटा और माताने सस्नेह मेरे मस्तकपर अपने पाणिपङ्कज फेरते हुए यह कहा था कि—

'अजर अमर गुननिधि सुत होहू ।

कहिं सदा रघुनाथक छोहू ॥'

सजल नयन गद्गद स्वरसे पिताजीने भी मेरा हाथ पकड़कर उनके श्रीचरणोंसे छुला दिया और यह कहा कि 'धेटे ! अब तुम बिलकुल अच्छे हो गये ।'

इसके पश्चात् मेरी पढ़ाई-लिखाई उक्त डाक्टरकी सलाहके कारण मन्दगतिसे ही चलती रही और मेरा पालन-पोषण भी लाइ-दुलारसे कुछ इस प्रकारका हुआ कि मैं हाई स्कूल भी न पास कर पाया । इसके बाद सन् १९२६ में पिताजी, जिन्होंने अब डिप्टी कलेक्टरीसे अवसर प्राप्त किया था, गाँवमें रहने लगे । उधर माताका स्वास्थ्य कुछ ऐसा बिगड़ा कि वे अगस्त १९२७ की २४ तारीखको ब्राह्ममुहूर्तमें गोलोकवासिनी हो गयीं । पिताजीको उनके निधनसे ऐसी चोट पहुँची कि वे बहुधा मौन रहने लगे और अपना समय अधिकतर धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने और पूजा-पाठमें बिताने लगे । मुझे इसी बीच एक अंग्रेजोंके बड़े फर्ममें, जो सी० एल० सी० के नामसे प्रसिद्ध था और जिसका हेडक्वार्टर मद्रासमें था—नौकरी आगरेमें मिल गयी । मैं वहाँ मोहल्ला नामनेरमें डाक्टर कालीचरण दुबेकी कोठीमें रहकर काम किया करता था और हजारों रुपयेका माल वहाँ गोदाममें रक्खा रहता था । १२ सितम्बर १९२० की रातको मुझे इसी घरमें डाकुओंने घुसकर गोरखोंवाली भुजालीसे ऐसा धायल किया कि मेरा दाहिना हाथ तो बिलकुल बेकार हो गया—कुहनी और कलाईकी हड्डियाँ बाहर निकल पड़ीं । बायें हाथमें भी गहरा घाव लगा और हड्डी कट गयी । गाल तथा डुड्डीपर भी चोटें लगीं और एक घाव बायें तरफ छातीमें ऐसा लगा कि लगभग फेफड़ोंतक पाँच इंच

लंबा घुस गया—डाकू कुछ ले न जा पाये और भागे, परंतु मुझे मरा हुआ ही समझकर वे वहाँ छोड़ गये थे।

मुझे अस्पतालमें छः महीने लगे। मौतसे लड़ाई भी होती रही। डाक्टर लोग हाथोंको काट डालनेके लिये तैयार थे; परंतु मैंने उस दशमें भी उन्हें हाथ काटनेसे यह कहकर रोक दिया कि मेरी हाथों बिना जिंदगी किस कामकी होगी—मैं अमर तो हूँ नहीं, इसलिये मुझे आप मर जाने दें। मैं हाथ न कटवाऊँगा। रुग्णावस्थामें चारपाईपर पड़े-पड़े मैं अपनी माताका स्वप्न देखा करता और उनके आशीर्वादके सहारे यही सोचता रहता कि मैं मर नहीं सकता। धीरे-धीरे वास्तवमें मैं स्वस्थ हो ही गया और अब मेरे दोनों हाथ ठीक हैं। केवल दाहिना हाथ कुछ खराब है—क्योंकि मैं उससे खाने तो नहीं सकता; परंतु लिखता उसीसे हूँ। बायाँ हाथ बिल्कुल ठीक है, जिसके सहारे खाता-पीता हूँ, मोटर सायकिल, मोटरकार, सायकिल इत्यादि सब चला लेता हूँ और कुएँसे पानी भी भर लेता हूँ और आज ६७ वर्षकी अवस्थामें भी एक युवककी तरह मीलों चल-फिर लेता हूँ। लोग कहने लगते कि तुम तो युवावस्था-

वालोंको भी मात करते हो—इस जर्जरावस्थामें भी मुझे यह सुलभ है और अजरका अर्थ भी यही तो होता है। और डाकूओंके घातक प्रहारसे बचना ही तो अमरता थी। फिर मैं जैसे कोई परीक्षा पास नहीं हूँ—परंतु लिखने-पढ़नेमें, बोलचालमें, हिंदी और अंग्रेजी आदि इतनी अच्छी जान गया हूँ कि मुझसे यह कोई भ्रमसे भी नहीं कह सकता कि मैं किसी युनिवर्सिटीका प्रेजुएट नहीं हूँ। यही 'गुण-निधि' के लक्षण भी हैं। तो 'अजर', 'अमर', 'गुणनिधि' के ये सब लक्षण केवल माताके आशीर्वादके ही फल हैं। जो कोई चाहे आकर साक्षात् इसकी सत्यताकी परीक्षा कर ले। मैं निरभिमान उसे विश्वास दिलाता हूँ कि वह इस चमत्कारको देखकर चकित हो जायगा। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि माताके उस आशीर्वादाने ही मेरी रक्षा करके मुझे अजर, अमर और गुणोंसे युक्त इतना सम्पन्न अवतक बनाये रक्खा है। धन्य हैं युगल सरकार, जिन्होंने माताकी लाज रखकर मुझे ६७ वर्षका ऐसा और इस योग्य किया कि मुझे लोग देखें-सुनें और समझें तथा भगवान्में आस्था रखकर संसार-सागरको पार करें। —रामकृपाल शुक्ल



प्रार्थना

हमारे जीवन लाड़िलि-लाल।

रासबिहारिनि, रासबिहारी लतिका-हेम, तमाल ॥

महाभाव-रसमयी राधिका, स्याम रसिक रसराज ॥

अनुपम अतुल रूप-गुन-माधुरि अँग-अँग रही बिराज ॥

दोड़ दोउन हित चातक-घन प्रिय, दोड़ मधुकर-जलजात ॥

प्रेमी प्रेमास्पद दोड़, परसत दोड़ दोउन वर गात ॥

मेरे परम सेव्य सुचि सरबस दोड़ श्रीस्यामा-स्याम ॥

सेवत रहूँ सदा दोउनके चरन-कमल अभिराम ॥

श्रीहरि:

श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके द्वारा लिखित जीवनको सरलतासे उच्चतम आध्यात्मिक आदर्शोंकी ओर अग्रसर करनेवाली सरल, सुन्दर, शिक्षाप्रद सचित्र और सस्ती पुस्तकें

	मूल्य रु. न. पै.
श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्व-विवेचनी नामक हिंदी- टीका, पृष्ठ ६८४ ...	४.००
आत्मोद्धारके साधन-पृष्ठ-संख्या ४६४, रंगीन चित्र ४ ...	१.२५
भक्तियोगका तत्त्व-पृष्ठ-संख्या ४५६, रंगीन चित्र ४ ...	१.२५
कर्मयोगका तत्त्व-पृष्ठ-संख्या ४२०, दो तिरंगे, तीन सादे चित्र ...	१.१२
महत्त्वपूर्ण शिक्षा-पृष्ठ-संख्या ४७६, रंगीन चित्र ४ ...	१.००
परम साधन-पृष्ठ-संख्या ३७२, तिरंगे चित्र ५, ...	१.००
मनुष्य-जीवनकी सफलता-पृष्ठ-संख्या ३५२, तिरंगे चित्र ५ ...	१.००
परमशान्तिका मार्ग-पृष्ठ-संख्या ४१६, चित्र रंगीन ४, सादे २ ...	१.००
मनुष्यका परम कर्तव्य-पृष्ठ-संख्या ४१०, चित्र रंगीन ४ ...	१.००
ज्ञानयोगका तत्त्व-पृष्ठ-संख्या ३८४, चित्र रंगीन ३ ...	१.००
प्रेमयोगका तत्त्व-पृष्ठ-संख्या ३८०, चित्र रंगीन ५, सादा १ ...	१.००
तत्त्व-चिन्तामणि-भाग १ सचित्र, पृष्ठ ३५२	०.६२
" - " २ सचित्र, पृष्ठ ५९२	०.८७
" - " ३ सचित्र, पृष्ठ ४२४	०.७०
" - " ४ सचित्र, पृष्ठ ५२८	०.८१
" - " ५ सचित्र, पृष्ठ ४९६	०.८१
" - " ६ सचित्र, पृष्ठ ४५६	१.००
" - " ७ सचित्र, पृष्ठ ५२०	१.१२

तत्त्व-चिन्तामणिका गुटका संस्करण-

भाग	मूल्य रु. न. पै.
-१ सचित्र पृष्ठ ४४८, सजिल्द	०.५०
" -२ सचित्र, पृष्ठ ७५२, सजिल्द	०.५६
" -३ सचित्र, पृष्ठ ५६०, सजिल्द	०.५०
" -४ सचित्र, पृष्ठ ६८४, सजिल्द	०.६२
" -५ सचित्र, पृष्ठ ६२१, सजिल्द	०.५६
परमार्थ-पत्रावली-भाग १ पृष्ठ ११२, सचित्र	०.२५
" -भाग २ पृष्ठ १७२, सचित्र	०.२५
" -भाग ३ पृष्ठ २००, सचित्र	०.५०
" -भाग ४ पृष्ठ २१४, सचित्र	०.५०
अध्यात्मविषयक पत्र-पृष्ठ १६४, सचित्र ...	०.५०
शिक्षाप्रद पत्र-पृष्ठ २४२, सचित्र ...	०.५०
रामायणके कुछ आदर्श पात्र-सचित्र, पृष्ठ १६८	०.३७
स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा-पृष्ठ १७६ ...	०.३७
महाभारतके कुछ आदर्श पात्र-स०, पृष्ठ १२८	०.२५
आदर्श भ्रातृ-प्रेम-पृष्ठ १०४ ...	०.२५
शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ-पृष्ठ १२८ ...	०.२५
आदर्श नारी सुशीला-पृष्ठ ५१ ...	०.२०
ध्यान और मानसिक पूजा-पृष्ठ ३२ ...	०.२०
गीता-निबन्धावली-पृष्ठ ८० ...	०.१६
श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति-पृष्ठ ४८, सचित्र	०.१२
नवधा भक्ति-पृष्ठ ६४, सचित्र	०.१२
बाल-शिक्षा-पृष्ठ ६४, सचित्र	०.१२
ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप-पृष्ठ ३१ ...	०.१०
नारी-धर्म-पृष्ठ ४८ ...	०.१०
गीता पढ़नेके लाभ ...	०.१०
श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा ...	०.०८
श्रीप्रेम-भक्ति-प्रकाश ...	०.०६
सच्चा सुख और उसके प्राप्तिके उपाय	०.०६
सामयिक चेतावनी	०.०६

मूल्य. र. न. पै.	मूल्य र. न. पै.
श्रीमद्भगवद्गीताका तत्त्विक विवेचन ... ०.०६	अवतारका सिद्धान्त ... ०.०३
गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग- का रहस्य ... ०.०५	चतुःश्लोकी भागवत-सटीक ... ०.०३
संत-महिमा ... ०.०५	धर्म क्या है ? ... ०.०२
वैराग्य ... ०.०५	तीर्थोंमें पालन करने योग्य कुछ उपयोगी बातें ... ०.०२
भगवान् क्या हैं ? ... ०.०३	महात्मा किसे कहते हैं ? ... ०.०२
भगवान्की दया ... ०.०३	ईश्वर दयालु और न्यायकारी है ... ०.०२
सत्सङ्गकी कुछ सार बातें ... ०.०३	प्रेमका सच्चा स्वरूप ... ०.०२
गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग ... ०.०३	हमारा कर्तव्य ... ०.०१
राज्यकी शरणसे मुक्ति ... ०.०३	ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है ... ०.०२
भगवान्के विविध उपाय ... ०.०३	त्यागसे भगवत्प्राप्ति ... ०.०१
स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग ... ०.०३	चेतावन्नी ... ०.०५
व्यापार-सुधारकी आवश्यकता ... ०.०३	कल्याण-प्राप्तिकी कई युक्तियाँ ... ०.०२
परलोक और पुनर्जन्म ... ०.०३	शोकनाशके उपाय ... ०.०२
ज्ञानयोगके अनुसा विविध साधन ... ०.०३	श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव ... ०.०२
	गजल गीता ... ०.०१

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले उनके छपे मूल्यपर स्थानीय विक्रेताओंसे अथवा हमारी निजी दुकानोंसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये, इससे भारी ढाकखर्चकी बचत हो सकती है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीगीता और रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरित मानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाओंके लिये स्थान-स्थानपर लगभग ५०० केन्द्र स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार किये जा सकते हैं।

आगामी गीता-परीक्षाएँ रविवार, सोमवार दिनाङ्क २१ व २२ नवंबर १९६५ को एवं रामायण-परीक्षाएँ दि. २९ व १० जनवरी १९६६ रविवार, सोमवारको होनेवाली हैं। केन्द्र-व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके लिये आवेदनपत्र एवं नवीन केन्द्रोंके लिये प्रार्थनापत्र दिनाङ्क ३० अगस्त १९६५ तक भेज देनेकी कृपा करें। विशेष जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली माँगा जा सकती है।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन,
पो०-स्वर्गाश्रम (पौड़ी गढ़वाल) उत्तर प्रदेश